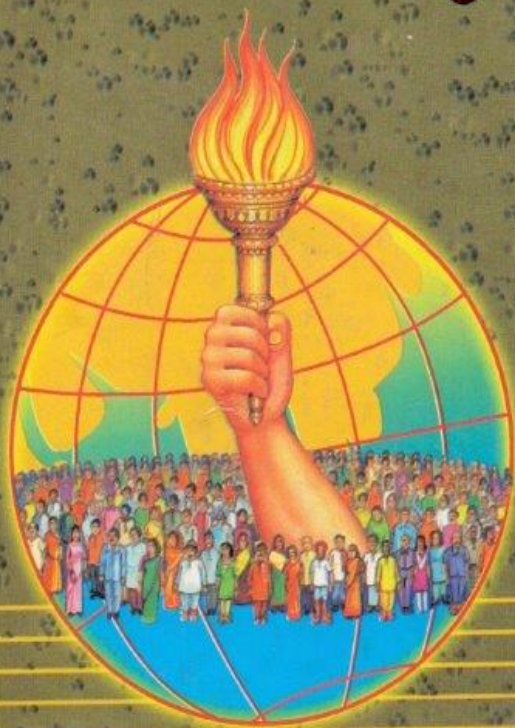


# समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान



-श्रीराम शर्मा आचार्य

# समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान

लेखक :

—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

प्रथम संस्करण १९७५

पुनरावृत्ति सन् २०११

मूल्य : ९०.०० रुपये

प्रकाशक :

**युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट**

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक

**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य**

प्रथम संस्करण सन् १९७५

पुनरावृत्ति सन् २०११

मुद्रक

**युग निर्माण योजना प्रेस**

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

# प्रयोजन और प्रतिवेदन

भारत अनादिकाल से समस्त संसार का मार्गदर्शन करता रहा है। विश्वमानव की सर्वतोमुखी प्रगति में उसने सदा से अजस्र अनुदान दिया है। ज्ञान और विज्ञान का उदय, अवतरण इस भारतभूमि पर सर्वप्रथम हुआ तो, पर वह इस सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध नहीं रहा। प्रभातकालीन सूर्योदय का श्रेय तो मिला, पर वे किरणें समूची जगती को प्रकाशवान बनाने के लिए निस्सृत होती रहीं। समस्त मानव जाति ने भारतीय अनुदानों का अनवरत लाभ उठाया। यही है इस देश की गौरव गरिमा का प्रधान आधार।

भारतभूमि को स्वर्गादपि गरीयसी कहा गया है। यहाँ किसी समय ३३ करोड़ की जनसंख्या थी। उज्ज्वल चरित्र और आदर्श कर्तृत्व की दृष्टि से उन्हें देवता की पदवी दी जाती रही। इस देश में ३३ कोटि देवता रहते हैं, यह विश्वविख्यात था। भारत को जगद्गुरु कहा जाता था, क्योंकि उसने विश्ववसुधा के कोने-कोने में ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश फैलाया। उसे चक्रवर्ती शासक माना जाता था, क्योंकि उसने समाज व्यवस्था और शासन सत्ता की स्थापना का मार्ग सुझाया और अनगढ़ मानव को व्यवस्था बनाकर रहने का क्रियात्मक प्रशिक्षण दिया। उसे स्वर्ग संपदाओं का स्वामी कहा जाता था, क्योंकि शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, व्यवसाय, कृषि, पशुपालन आदि के सुझाव और साधन सर्वत्र यहीं से पहुँचाए गए। जो अपने आप में भरा-पूरा हो और पृथ्वी भर को संपन्न बनाने के लिए अनुदान बखेर रहा हो, उसे कुबेर का देश-स्वर्ण संपदाओं का स्वामी तो कहा ही जाना चाहिए। भारत की गौरवमयी गरिमा प्रागैतिहासिक काल से गगनचुंबी बनी और एक सहस्राब्दी से पूर्व तक अक्षुण्ण बनी रही।

दुर्दिन ने हमारा आंतरिक स्तर गिराया, तदनुसार परिस्थितियाँ भी गिरती, बिगड़ती चली गई। पतन का क्रम इतना आगे गया कि हमें विदेशियों द्वारा लंबे समय तक पद-दलित रहना पड़ा-रोमांचकारी शोषण और उत्पीड़न का शिकार बनना पड़ा। जो किसी समय हर क्षेत्र में दानी था, उसे पग-पग पर पराश्रयी, परावलंबी और परमुखापेक्षी होकर रहना पड़ा।

उत्थान और पतन की अपनी-अपनी विधाएँ एवं परंपराएँ हैं। मनुष्य जब तक सद्गुणसंपन्न, संयमी, पराक्रमी, शालीन और उदात्त रहता है, तब तक उसकी प्रगति होती है और उन उपलब्ध विभूतियों का लाभ दूसरे भी उठाते हैं। किंतु जब मनुष्य व्यक्तिवादी, स्वार्थ संकीर्णता से ग्रसित हो तो उसे अनेकानेक दुर्भावनाओं का, दुर्गुणों का और दुष्प्रवृत्तियों का शिकार होना पड़ता है। इस स्थिति में वह स्वयं दीन-दरिद्र बनता है और अपनी दुर्गंध से दूर-दूर तक के वातावरण को दुर्गंधित कर देता है। हमारे व्यक्तित्व घटिया बने तो दुर्बल भी हुए। जहाँ दुर्बलता होती है वहाँ आक्रांता को मनमानी करने का अवसर मिल जाता है। पिछले हजार वर्षों तक हम इस कुचक्र में पड़े अपने अवसान का दुर्दंड भोगते रहे। संसार बहुत आगे निकल गया और हम हर क्षेत्र में पिछड़ते गए।

नव जागरण की इस प्रभात वेला में भारत को अपनी खोई हुई चेतना को पुनः प्राप्त करना है और पुरातन गौरव गरिमा के प्राप्त करने के लिये प्रचंड प्रयत्न करना है। युग का संदेश है कि हम अपने खोए हुए वर्चस्व को पुनःप्राप्त करें और न केवल अपने को गौरवशाली बनाएँ वरन विश्व-कल्याण के उस उत्तरदायित्व को भी वहन करें जिसे इस देश ने लाखों वर्ष तक अपने कंधों पर उठाए रखा था।

स्पष्ट है कि भौतिक समृद्धियों का चिरस्थायी आधार सद्गुणों पर आधारित विभूतियों पर टिका हुआ है। लोभ-मोह की, वासना-तृष्णा की, पेट-प्रजनन की क्षुद्रता तक सीमित रहने वाले मनुष्यता की गरिमा को गँवाते हुए क्रमशः नरपशु, नरकीटक और नरपिशाच

की स्थिति तक गिरते चले जाते हैं। जिन्हें समूह निष्ठा का ध्यान है, जो व्यक्तित्व और चरित्र को उत्कृष्टता से अलंकृत करते हैं, जिन्हें उदारता, कर्तव्यपरायणता, आत्मीयता एवं सेवा साधना में आनंद मिलता है, वे मनुष्य से महामानव, ऋषि, देवता और भगवान के स्तर तक ऊँचे उठते हैं और अपने अनुदानों से समस्त संसार को उपकृत करते हैं। इस सनातन सत्य और अविच्छिन्न तथ्य को हमें जानना, मानना एवं हृदयंगम करना पड़ेगा। प्रगति का यही रास्ता है। हम आत्मिक दृष्टि से ऊँचे उठेंगे तो भौतिक प्रगति सहज ही उपलब्ध होती चली जाएगी। प्रकाश की ओर चलने से छाया अनायास ही पीछे चलती है।

हम जिस दयनीय स्थिति में पड़े हैं उससे उबरने का सदुद्देश्य पूर्ण हर संभव प्रयत्न करें। साथ ही यह ध्यान रखें कि हमारे चारों ओर समस्त संसार में भयंकर दावानल जल रहा है। उसे बुझाने के प्रयत्न को भी आत्मोत्कर्ष का एक अंग मानकर ही चलें, अन्यथा इस अग्निकांड की चपेट में आकर हम अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगे। ऐसी दशा में अपने छोटे दायरे में छोटी प्रगति की बात भी कहाँ बन पड़ेगी? वर्तमान परिस्थितियों में आत्मोद्धार के पश्चात विश्वोद्धार की नीति नहीं अपनाई जा सकती। अब दोनों प्रयास एक साथ करने पड़ेंगे। स्वास्थ्य अच्छा बनाने के उपरांत घर के बीमारों की देखभाल करने की बात सोचना अवांछनीय है। समय की पुकार अपना, अपने देश का और समस्त विश्व परिवार का हितसाधन साथ-साथ कर सकने वाली योजना को हाथ में लेने की है। हमें वही करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक का लेखन-संपादन इस उद्देश्य से किया गया है कि प्रत्येक भारतीय अपनी ऐतिहासिक गौरव-गरिमा को समझे और उन महान परंपराओं को जाने, जिन्होंने हमारे पूर्वजों को देवोपम सम्मान का अधिकारी बनाया था। भारतीय कभी नर पशु नहीं रहे। वे क्षुद्र स्वार्थों के लिए न तो कभी जिए हैं और न मरे-खपे हैं। जन्म घुटी में ही उनको मानवीय कर्तव्यों को अपनाने की और उसके लिए बढ़-चढ़कर त्याग-बलिदान करने की शिक्षा दिलाई जाती है। वे पेट और परिवार को नहीं, आदर्शों की रक्षा करने एवं समस्त

संसार को पीड़ा एवं पतन को निरस्त करने के लिए अपने चिंतन और कर्तृत्व को निरंतर नियोजित रखते थे। इस देवोपम रीति-नीति को अपनाकर वे आत्मिक विभूतियों से और भौतिक समृद्धियों से भरे-पूरे बन सके, साथ ही अपना तथा समस्त संसार का भला कर सके।

यही है हमारी सांस्कृतिक पुण्य परंपरा, पूर्वजों की विरासत और गौरव-गरिमा की आधारशिला, जिससे हमें पूरे भावावेश एवं प्रचंड पुरुषार्थ के साथ अपनी नवोदित सत्ता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है। प्रगति के सर्वतोमुखी प्रयास करने के लिए समय ने, संस्कृति की आत्मा ने हमें पुकारा है। इस उद्बोधन को हमें स्वीकार करना ही चाहिए। इस संदर्भ में हमें अपने अतीत से प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए और पूर्वजों के महान पद चिन्हों का अनुसरण करना चाहिए। इस दिशा में आवश्यक प्रकाश एवं प्रोत्साहन प्रदान करने में वह इतिहास उपयोगी सिद्ध होगा, जिसे संक्षेप में इस पुस्तक के पृष्ठों पर अंकित किया गया है।

इन्हीं प्रयत्नों में “युग निर्माण योजना” निरत है। अपने देशवासी पूर्वजों की महान परंपराओं को अपनाएँ और अपना उत्कर्ष करते हुए लोक मंगल की भूमिका का समुचित निर्वाह करें, इसी उद्देश्य के इर्द-गिर्द उसकी समस्त गतिविधियाँ घूमती हैं। देश में सांस्कृतिक वर्चस्व की पुनः प्रतिष्ठापना हो और उसका प्रकाश संसार के कोने-कोने में फैले तभी सच्ची और चिरस्थायी सुख-शांति की नींव रखी जा सकेगी। इस दिशा में भारतीय लोक मानस को प्रोत्साहन एवं प्रकाश देने की दृष्टि से यह पुस्तक लिखी गई है। साथ ही युग निर्माण योजना के अंतर्गत संसार भर को मानवीय संस्कृति का संदेश सुनाने को वैसी ही गतिविधियों को अग्रसर करने वाला शंखनाद किया गया है, जैसा कि हमारे युग पुरुषों द्वारा अनवरत गति से किया जाता रहा था।

आशा है कि विज्ञ पाठक इस पुस्तक को इसी दृष्टि से देखेंगे और प्रस्तुत प्रकाश से समुचित प्रेरणा ग्रहण करेंगे।



# विषय-सूची

१. अपने गौरवमय अतीत की झाँकी	९
२. तीर्थ यात्रा हमारी परंपरा	२२
३. पूर्वजों की पुण्य परंपराएँ हम फिर अपनाएँ	३०
४. बृहत्तर भारत और उसकी सीमाएँ	३७
५. विश्व के कोने-कोने में फैली हुई भारतीय सभ्यता	४२
६. विश्व निर्माण की ओर से आँखें न मूँद लें	५३
७. अमेरिका और भारतीय संस्कृति	५७
८. योरोप का आर्यावर्त-जर्मनी	७४
९. अफ्रीका महाद्वीप में भारतीय संस्कृति	८३
१०. मॉरीशस-छोटा भारत	९१
११. आस्ट्रेलिया महाद्वीप के भारतीय	९७
१२. भारतीय प्रतिभाओं का समस्त विश्व में आवागमन	१०१
१३. बौद्ध धर्म का उदय-एक क्रांतिकारी अवतरण	१०७
१४. संप्रदाय नहीं दर्शन-शिष्य नहीं उत्तराधिकारी	१२०
१५. मध्य एशिया का खोतान क्षेत्र-बृहत्तर भारत का एक अंग	१३५
१६. चीन-भारतीय संस्कृति के चरणों में	१४६
१७. रूस तक भारतीय संस्कृति का विकास-विस्तार	१७५
१८. सूर्यवंशी जापान की बौद्ध-निष्ठा	१८३
१९. कोरिया और मंगोलिया में आलोक	१९४
२०. साइबेरिया के घोर शीत प्रदेश में	२००
२१. रामायण प्रेमी-इंडोनेशिया	२०४
२२. हिंद चीन क्षेत्र को भारत के अनुदान	२०९
२३. भारतीय धर्मानुयायी कंबोडिया	२१३



२४. सुवर्ण द्वीप-समूह-जिसे भारतीयों ने बसाया-बढ़ाया	२२७
२५. सुवर्ण द्वीप में हिंदू-सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार	२३५
२६. भारतीय धर्मानुयायी-जावा	२४३
२७. सुमात्रा-‘श्रीविजय’ देश	२५३
२८. बोर्नियो में भारतीयता	२५६
२९. आज का अनाम-प्राचीन काल का चंपा हिंदू राज्य	२५८
३०. वाली में धर्म-विस्तार	२७१
३१. स्याम (थाईलैंड) एक मात्र बौद्ध-राष्ट्र	२७७
३२. मलेशिया और सिंगापुर	२८९
३३. पश्चिमी एशिया में भारतीय वर्चस्व	२९७
३४. विद्वेष के दुष्परिणाम	३१५
३५. कैलाश-मानसरोवर का शिवतीर्थ-तिब्बत	३२०
३६. नेपाल-संसार का एक मात्र स्वतंत्र हिंदू राष्ट्र	३३६
३७. भूटान प्रांत-जो अब भारत का संरक्षित प्रदेश भर है	३४८
३८. सिक्किम-अभी भी भारत से जुड़ा है	३५३
३९. बर्मा भी हमसे विलग हो गया	३५७
४०. लंका और भारत की एकता	३६४
४१. पाकिस्तान-हमारी सांस्कृतिक दुर्बलता का प्रतिफल	३७५
४२. बंगदेश-बंगला देश	३८४
४३. प्रवासी भारतीयों की वर्तमान स्थिति	३८८
४४. विदेशों में भारतीयता प्रेमी संगठन	३९६
४५. प्रवासी भारतीयों संबंधी कुछ उपलब्ध जानकारियाँ	४०१
४६. भारतीय तत्व-ज्ञान को विश्वव्यापी बनाया जाए	४४१



# अपने गौरवमय अतीत की एक झाँकी

आदर्श सहित उद्देश्य को यदि जीवन लक्ष्य बनाया जाए तो मनुष्य की अंतःचेतना अत्यंत बलिष्ठ होती जाती है और उस सामर्थ्य के कारण जीवनोपयोगी सभी आवश्यक सुविधा-साधन तो सहज में जुटते ही रहते हैं, साथ ही वे परिस्थितियाँ भी प्रस्तुत होती रहती हैं जिनके कारण आत्म संतोष मिलता रहे, आत्म गौरव उपलब्ध होता है रहे। आत्मबल ही इस संसार में सबसे बड़ा बल और वैभव है, इसे प्राप्त करने के उपरांत न कोई दुःख शेष रहता है और न अभाव, न दारिद्र्य का कोई कारण शेष बचता है। अपने गुण-कर्म-स्वभाव की उत्कृष्टता यदि संपादित कर ली जाए तो भौतिक दृष्टि से तृप्तिदायक सुख और आनंददायक शांति की प्रचुर मात्रा सदैव सामने खड़ी रहती है। ऐसे व्यक्ति स्वयं श्रेय प्राप्त करते हैं और अपनी पीठ पर बिठाकर अनेकों को पार उतारते हैं। उनके चरणचिन्हों का अनुगमन करते हुए अनेकों अल्प-सामर्थ्यवान् उन्नति के उच्च शिखर पर चढ़ने का प्रकाश एवं साहस प्राप्त करते हैं।

प्राचीन काल में संपत्ति का अर्थ होता था दैवी संपत्ति-गुण, कर्म, स्वभाव के व्यक्तिगत जीवन की उत्कृष्टता-व्यक्तित्व की प्रखरता। जिसके पास यह पूँजी थी, उसे संपत्तिवान् कहा जाता था। उस समय प्रगति का अर्थ था-‘अपनेपन’ की परिधि को अधिकाधिक व्यापक, विस्तृत बनाना। आत्मीयता को शरीर और परिवार तक सीमित न रखकर उसे मनुष्यमात्र तक-प्राणिमात्र तक विस्तृत करना। दूसरों के दुःख में दुखी और दूसरों के सुख में सुखी रहना। अपनी चेतना तथा कर्तव्य से सुविस्तृत क्षेत्र को लाभान्वित

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९

करना। देश, धर्म, समाज और संस्कृति की-मानवता की परिपुष्टि के लिए बढ़े-चढ़े साहस और पुरुषार्थ का परिचय देना।

उन दिनों हर व्यक्ति सुसंपन्न बनना चाहता था, पर वह संपन्नता चाँदी के टुकड़ों, विलासिता के उपकरणों एवं ठाठ-बाट के अहंकारी प्रदर्शनों तक सीमित न थी। सामान्य लोगों की तुलना में कौन-कितने बड़े आदर्शवादी कीर्तिमान स्थापित कर सका, इसी कसौटी पर व्यक्ति का वर्चस्व परखा जाता था। जो महामानव की, भूसुर की भूमिका संपन्न करते थे, उन्हें ही संपत्तिशाली माना जाता था। लिप्सु-लोलुप, कृपण और कृतघ्न, संकीर्ण, स्वार्थी जहाँ-तहाँ उस जमाने में भी थे और उनके पास दूसरों की तुलना में वैभव भी अधिक रहता था, उससे शौक-मौज का लाभ भी उन्हें मिलता था, पर आत्म-संतोष और लोकमानस से सर्वथा वंचित वे अभागे निकृष्ट नरकीटों की तरह ही मौत के दिन पूरे करते थे। उन्हें विज्ञ समाज में कंगाल कहकर उपहासास्पद एवं घृणास्पद माना जाता था, भले ही अमीरी का ठाठ-बाट उनके पास कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो?

प्राचीन भारत का इतिहास इस देश में जन्मे नर रत्नों का इतिहास है। भारत-भूमि ने अन्न, वृक्ष, खनिज जैसी प्रकृति संपदाएँ उत्पन्न करके भौतिक संपदाओं के ही भंडार नहीं भरे, वरन देव-मानवों का भी प्रचुर मात्रा में उत्पादन किया। घर-घर में नर रत्नों की खान थी। किसकी चमक कितनी प्रखर है, इसकी प्रतिस्पर्द्धा रहती थी। महानता की कसौटी पर किसका, कितना बढ़-चढ़ा मूल्यांकन होता है, इसी महत्वाकांक्षा से हर किसी का मन उद्वेलित रहता था। शूरवीर उन दिनों तलवार चलाने वाले ही नहीं माने जाते थे, वरन उन्हें भी योद्धा घोषित किया जाता था जिन्होंने अपनी पशु प्रवृत्तियों को, तृष्णा-वासना को, संकीर्ण स्वार्थपरता को पैरों तले रौंद सच्ची विजय प्राप्त की। ऐसे आत्मजयी योद्धा ही अभिनंदन और अभिवादन के पात्र समझे जाते थे। हर वर्ग में हर क्षेत्र में ऐसे आत्मजयी योद्धा भरे पड़े थे, उनके गौरवशाली अस्तित्व भारत माता

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १०**

की कीर्ति ध्वजा दशों दिशाओं में उड़ाते थे। इस आधार पर सुविकसित भारत की गौरव-गरिमा के सामने समस्त विश्व श्रद्धावनत मस्तक झुकाए खड़ा रहता था। उनकी विजय दुंदुभि विश्व के कोने-कोने में गूंजती, प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती थी। प्राचीन इतिहास के जितने भी पृष्ठ पलटें जाएँ उनमें भारत की इसी विशिष्टता का उल्लेख स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ मिलता चला जाएगा।

उन दिनों अभिभावक यह प्रयत्न करते थे कि गर्भावस्था में पहुँचते ही बालक महामानवों की भूमिका में अवतरित हो। इसलिए उसकी शिक्षा उसी दिन से आरंभ हो जाती थी जिस दिन कि उसने गर्भ में प्रवेश किया। अर्जुन और सुभद्रा ने यही निश्चय किया था कि वे शूकर-कूकर की तरह ढेरों बच्चे नहीं जनेंगे। एक उत्पन्न करेंगे और उसे सुसंस्कृत बनाने के लिए अपने आप को उस प्रकार का साँचा बनाएँगे जिससे उत्पन्न संतान महानता के साँचे में ढली हुई हो। वैसा ही हुआ भी। पति-पत्नी ने परस्पर संवाद और व्यवहार वीरोचित रखे, फलतः अभिमन्यु अभीष्ट विशेषता लेता आया। उसने उतना चक्रव्यूह आसानी से वेधन कर लिया जितना कि माता-पिता से गर्भावस्था में सीखा था।

मदालसा ने अपने कुछ बालकों को ब्रह्मज्ञानी बनाया। जब तक वे बालक गर्भावस्था में रहे, तब तक उसने अपना चिंतन और चरित्र वैसा ही ढाला जैसी कि उसे संतान चाहिए थी। फलतः वे ब्रह्मवेत्ताओं के संस्कार लेकर जन्मे। एक बालक को उसने अपनी इच्छानुसार राज्य शासन कर सकने योग्य भी ढाला और वह भी ठीक उसकी इच्छानुसार जन्मा।

कुंती को देव गुणों से सुसज्जित संतान की आवश्यकता थी। उसने देव तत्त्वों से अपना रोम-रोम ओत-प्रोत किया और जिस-जिस दैवी शक्ति से सुसज्जित बालक की आकांक्षा की, ठीक उसी स्तर के उत्पन्न किए। सूर्यगुण संपन्न-कर्ण, इंद्र पुत्र-अर्जुन, धर्मराज पुत्र-युधिष्ठिर, पवनपुत्र-भीम, अश्विनीकुमार

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११**

से-नकुल, सहदेव उत्पन्न माने जाते हैं। यह विद्या उन दिनों घर-घर में ज्ञात थी। सभी जानते थे कि अभिभावकों की आकांक्षा, निष्ठा और क्रिया जिस स्तर की होगी वैसे ही बालक जन्मेंगे। इसलिए बच्चों का शिक्षण अभिभावक आत्मनिर्माण के रूप में आरंभ करते थे।

अंजनी को जैसा बालक अभीष्ट था वैसी उसने गर्भावस्था में तैयारी की। “राम काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ मोहि विश्राम” वाली क्षमता को लेकर हनुमान जन्मे। वे वज्र-अंगी (वजरंगी) अनायास ही नहीं थे। माता की महत्वाकांक्षा के अनुरूप ही यह निर्माण संभव हुआ था।

राम चाहते थे कि उनके बालक विशिष्ट महानता से ओत-प्रोत हों। राजमहल का वातावरण इसके लिए अनुकूल न था, तो उन्होंने सीता को ब्रह्मूष वाल्मीकि के आश्रम में भेजा, ताकि गर्भावस्था में माता को भ्रूण के उपयुक्त वातावरण में रहने का अवसर मिले। लव-कुश जन्मे तो वे ठीक वैसे ही थे, जैसा कि उनके अभिभावकों ने चाहा।

शकुंतला कंव ऋषि के आश्रम में पली थी। उसके पेट में दुष्यंत का गर्भ आया तो उसने यही चाहा कि संतान अपने देश का मुख उज्ज्वल करे। फलतः सिंह-शावकों से खेलने वाला भरत उसकी कोख से जन्मा और उस महाप्रतापी के पुरुषार्थ ने उसी के नाम पर इस पूरे देश का नामकरण ‘भारतवर्ष’ के रूप में कर दिया।

नचिकेता के उदारचेता पिता वाजिस्त्रवा जब समस्त धन-धान्य लोकमंगल के लिए दान दे चुके तो उसने पूछा आप लोभ त्याग की परीक्षा में सफल हो चुके, फिर मोह त्याग में क्यों असफल होते हैं, मुझे खिलौना बनाकर क्यों अपने पास रखना चाहते हैं, लोक-मंगल के लिए मुझे भी दान क्यों नहीं दे देते? वाजिस्त्रवा ने पुत्र को अपने से बढ़कर आदर्शवादी देखा तो हर्षोल्लास से उनकी आँखें डबडबा

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १२**

आई। उन्होंने तत्काल महा तपस्वी यमाचार्य के हाथ में अपने पुत्र नचिकेता का हाथ सौंप दिया और ब्रह्मवेत्ता बनकर इस विश्ववसुधा का गौरव बढ़ाने में समर्थ हुआ।

आद्य शंकराचार्य की माता अपने इकलौते पुत्र को भौतिक प्रगति में सुख-समृद्धि युक्त देखना चाहती थी। पुत्रवधू और पौत्र के साथ रहने को लालायित थी। माता की मोह ममता को उसके दसवर्षीय बालक ने चतुरतापूर्वक तोड़-मोड़कर फेंक दिया। प्रसिद्ध है कि उन्हें नदी नहाने के समय 'मगर ने पकड़ा' तो चिल्ला करके बोले कि मुझे शंकरजी को दान करो अन्यथा मगर खा जाएगा। माता ने अपना बालक शिवजी को दान कर दिया। वे मगर के मुँह में से छूटकर बाहर आ गए और परिव्राजक बनकर भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करने में समर्थ हुए।

ध्रुव ने माता के मोह को निरस्त किया और तप साधना में संलग्न होकर ध्रुवतारा के रूप में ब्रह्मांड को अपनी कक्षा में घुमाने वाले केंद्र बिंदु बने। प्रहलाद छोटा बालक तो था पर उसे मोह-ग्रस्त पिता का वह आदेश-आग्रह स्वीकार न हुआ जिसके अनुसार नीति-अनीति का ध्यान न करके अधिक से अधिक वैभव-उपार्जन के लिए समझाया जाता था।

समर्थ गुरु रामदास के घरवाले उन्हें विवाह के बंधन में बाँधकर सामान्य प्राणियों की तरह जीने के लिए विवश कर रहे थे। बात यहाँ तक पहुँच गई कि विवाहवेदी पर वधू को बिठा दिया गया। उनकी अंतरात्मा ने पुकारा कि इंद्रिय तृप्ति का पशु-प्रयोजन करते हुए मानव जीवन को व्यर्थ न कर, अपनी दिव्य क्षमताओं को स्त्री-बच्चों के छोटे दायरे में खरच न कर, उसे विश्व वसुधा की संपदा बना। अंतरात्मा की पुकार उन्होंने सुनी और विवाह वेदी पर से उठकर तावड़तोड़ भाग खड़े हुए। वेदी की अवज्ञा जरूर हुई, पर उनका फैसला भी धर्म की परिधि से बाहर नहीं था। मोह ग्रस्तों का मोह तोड़ देना भी तो एक धर्म ही है। बड़े-बूढ़े क्षोभ व्यक्त करते

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १३**

रहे पर समर्थ गुरु रामदास वह करने में समर्थ हुए जो सौ जन्मों तक विवाह और संतानोत्पादन करते रहने पर भी नहीं कर सकते थे।

दशरथ भी कुछ ऐसा ही परामर्श राम को दे रहे थे कि वरदान कैकेयी को दिया है, तुम्हें वन जाने का आदेश नहीं दिया। झूठा पडुंगा, तो कैकेयी के सामने मैं पडुंगा। तुम वन मत जाओ? राम ने उनका मोह तोड़ा और कहा कि संतान-सुख बड़ा नहीं है, कर्तव्य बड़ा है।

कृष्ण ने भी गोपियों का और अपनी दोनों माताओं का मोह तोड़कर ब्रज को छोड़ा था। उन्होंने सभी स्वजनों और प्रेमियों को समझाया कि जो उच्च कर्तव्यों में बाधा पहुँचाए वह प्रेम नहीं मोह है। मोह के बंधन तोड़ने में अधर्म नहीं है। यह कह कर कृष्ण ब्रज का परित्याग करके कर्तव्य की पुकार पूरी करने के लिए, अनीति के विरुद्ध संघर्ष करने की तैयारी करने के लिए अन्यत्र चले गए। तब वे किशोरावस्था में पर्दापण ही कर रहे थे।

गुरु गोविंदसिंह के बालकों के सामने जीवित रहने के लिए इस्लाम स्वीकार करने की शर्त थी, बच्चों ने हँसते-हँसते जीवित दीवार में चुने जाने की दुरूह पीड़ा सहकर अपने प्राण गँवाए। वे जानते थे कि जीवन-मरण का कोई महत्त्व नहीं। सर्वोपरि महत्ता आदर्शों की रक्षा करना है।

कुंती अज्ञातवास की अवधि में अपने बालकों को लेकर एक ब्राह्मण परिवार में छिपी हुई दिन काट रही थी। उस गाँव में हर घर से एक मनुष्य राक्षस के द्वारा खाए जाने का क्रम चल रहा था। उस दिन आश्रयदाता ब्राह्मण के इकलौते पुत्र की बारी आ गई। पाँचो बच्चे मचल पड़े। हममें से एक राक्षस के सामने क्यों न चला जाए? और ब्राह्मण बालक को क्यों न बचा लिया जाए? उनके प्रबल आग्रह ने कुंती को बात मानने के लिए बाध्य कर दिया। अब इस सौभाग्य का लाभ कौन उठाए? इस बात पर सब बच्चे आपस में लड़ने लगे। अंततः गोली निकालकर भाग्य का फैसला कराया

---

समस्त विश्व को भारत के अज्ञात अनुदान / १४

गया। निर्णय भीम के पक्ष में हुआ। वह राक्षस के सामने हँसता-उछलता चला गया और स्वयं शिकार बनने के स्थान पर उलटा उसे ही मारकर आया। बच्चे उन दिनों जानते थे कि मरना भी यदि सदुद्देश्य के लिए संभव हो सके तो वह हजार बार जीने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है।

विवाह आदर्शों की स्थापना के लिए दो आत्माओं के मिलन के रूप में होते थे, कामुकता के घृणित प्रयोजन की पूर्ति के लिए नहीं। दोनों मिलकर परिवार को एक छोटे आदर्श राष्ट्र के रूप में विकसित करते थे। परिवारों की संरचना एक सुव्यस्थित समाज संरचना की प्रयोगशाला के रूप में होती थी। इस पर पति-पत्नी न्यूनतम संतानोत्पादन करते थे। बच्चों को सुसंस्कृत बनाने पर ध्यान देते थे। विवाहित होने पर भी संतानोत्पादन थोड़े ही करते थे। जो करते थे उनके सामने विशेष लक्ष्य रहता था। वासनात्मक उन्माद उन्हें इसके लिए प्रेरित नहीं करता था। यह आदर्श न केवल ऋषियों वरन सामान्य स्तर के लोगों में भी प्रचलित था।

गृहस्थ जीवन में भी जनसाधारण के बीच आदर्शों की घोर प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता ठनी रहती थी। कौन किससे आगे निकलता है यह चुनौती अपने-अपने क्षेत्र में हर कोई अपने साथियों को देता रहता था। राम और भरत दोनों के सामने ऐसा ही धर्म संकट उत्पन्न था। दोनों ही चाहते थे कि त्याग और आदर्श के क्षेत्र में उनकी हेठी न होने पाए। 'राज्य हमें नहीं दूसरे को मिले' इस प्रतिद्वंद्विता में कोई हारा नहीं। फैसला यह हुआ कि राम की तरह ही भरत भी चौदह वर्ष तक तपस्वी जीवन जीयेंगे। राज सिंहासन पर राम की खड़ाऊँ स्थापित की जाएँगी।

विश्वामित्र उन दिनों नवयुग का सूत्रपात कर रहे थे, उन्हें साधनों की आवश्यकता थी। उनके शिष्य हरिश्चंद्र ने पूर्ण निस्पृहता का परिचय दिया। अपनी सारी संपदा ऋषि के हवाले कर दी। कमी पड़ी तो अपने को, स्त्री-बच्चों को बेचकर प्रस्तुत आवश्यकता की

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १५**



पूर्ति करने का आदर्श प्रस्तुत किया। सुदामा के गुरुकुल की अभावग्रस्त स्थिति दूर करने के लिए कृष्ण ने अपनी द्वारिका की अधिकांश संपत्ति का अधिकांश भाग ऋषि सुदामा को सौंप दिया था। राजा कर्ण को विपुल वेतन मिलता था, वे अपनी दैनिक आय में से अपने निर्वाह की न्यूनतम राशि लेकर शेष उसी दिन सत्प्रयोजनों के लिए दान कर देते थे। मरते समय दाँतों में लगा सोना तब दान कर जाने वाले कर्ण की परम्परा उन दिनों सभी सुसंपन्न व्यक्तियों में प्रचलित थी। कभी किसी के पास धन जमा हो भी गया तो विशिष्ट अवसर सामने आते ही उसने भामाशाह की तरह अपनी सारी संपदा प्रताप जैसे प्रयोजनों के लिए सौंपते हुए अपना भार हलका कर लिया।

राजा जनक व्यक्तिगत निर्वाह के लिए कृषि करते थे और स्वयं हल चलाते थे। राज्यकोष प्रजा की अमानत था और उसी के लिए खर्च होता था। ऐसा ही आचरण अन्य राजा भी करते थे। रानी अहिल्या बाई के राज्यकोष में से अधिकांश धर्म प्रयोजनों के लिए खर्च होता रहा। राजनीतिक विकृतियों का निवारण करने के लिए प्रस्तुत अश्वमेध योजनाएँ और सामाजिक अव्यवस्थाओं का निराकरण करने के लिए प्रस्तुत वाजपेय यज्ञ अभियानों में न केवल राजाओं के राज्यकोष खाली होते थे, वरन संपन्न लोगों की संपन्नता भी झाड़-बुहारकर साफ कर दी जाती थी।

उन दिनों लोकमंगल के प्रयोजनों में निरत साधु संस्था के सदस्य-साधु और ब्राह्मण अपने आप में एक पवित्र संस्था होते थे। परमार्थ जीवन जीते थे, उन्हें जनता मुक्तहस्त से दान देती थी। कब किस प्रयोजन लिए कितना धन खर्चा किया जाए यह निर्णय उन ऋषि कल्प महामानवों को ही सौंप दिया जाता था और ब्रह्मभोज तथा दान-दक्षिणा के रूप में वे देव पुरुष पर्याप्त साधन-सामग्री प्राप्त कर लेते थे। फलस्वरूप लोकमंगल की विभिन्न प्रवृत्तियाँ सहज ही फलती-फूलती रहती थीं। प्रत्येक वर्ष एवं पर्व के अवसर पर दान-पुण्य की आवश्यकता हर गृहस्थ में समझी जाती थी। गृहस्थों की

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १६**

दान प्रवृत्ति विभिन्न कर्मकाण्डों एवं धर्मायोजनों के माध्यम से उठती-उभरती रहती थी। फलतः समाज में इन प्रवृत्तियों को ऊँचा उठाने वाले क्रिया-कलाप इतने बड़े-चढ़े रहते थे कि न केवल अपना देश वरन समस्त विश्व उस दान-पुण्य की जनभावना से समुचित लाभ उठाता रहता था।

मंदिर उन दिनों देव प्रतिमा पूजन भर तक की रूढ़ियाँ पूरी नहीं करते थे। उन दिनों के समस्त देवालय अपने क्षेत्र में आदर्शवादी प्रेरणाओं का आलोक फैलाने वाले सफल केंद्र बिंदु बनकर अनेकानेक रचनात्मक धर्म प्रवृत्तियों का संचालन करते थे। कोई मंदिर देवालय अभावग्रस्त नहीं रहता था और उपलब्ध साधनों को मंदिरों का संचालन-कर्त्ता पुरोहित पूरी तरह जन-कल्याण में ही प्रयुक्त करता था? गृहस्थ अपना घर परिवार तो चलाते ही थे पर साधु-ब्राह्मणों द्वारा संचालित धर्म प्रयोजनों में कहीं कुछ भी कमी न पड़ने पाए इसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखते थे। व्यक्तिगत वैभव वृद्धि के स्थान पर धर्म प्रयोजनों के लिए कुछ अधिक रखने की प्रवृत्ति हर साधन संपन्न मनुष्य के मन में निरंतर उफनती रहती थी।

इन परिस्थितियों जैसा इस देश का प्रत्येक नागरिक आदर्शवादिता की प्रतिमूर्ति था। हर भारतीय का चरित्र एक महामानव का चरित्र था। उनमें से कभी-कभी कोई दृष्टान्त, उदाहरण चर्चा का विषय भी बनते रहे हैं, पर जब सभी लोग उस स्तर के थे तो चर्चा भी आखिर कहाँ तक की जाए?

अभिभावकों के प्रति संतान के कर्त्तव्यों के उदाहरण ढूँढ़ें तो श्रवणकुमार द्वारा अंधे माँ-बाप को कंधे पर काँवर में बिठाकर तीर्थयात्रा कराना, भीष्म पितामह का अपने पिता की प्रसन्नता के लिए आजीवन अविवाहित रहना, ययाति पुत्र का अपना यौवन वृद्ध पिता को देना, सत्यवान का तपस्वी पिता की सेवा व्यवस्था लकड़हारा बनकर करते रहना यह सिद्ध करते हैं कि-उन दिनों के सामान्य से सामान्य संतान को कर्त्तव्यपरायणता के स्तर तक पहुँचा हुआ पाया जाएगा।

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / १७**

पतिव्रत धर्म निर्वाह करने वाली सावित्री, दमयंती, सीता, गांधारी सर्वत्र मिलेंगी। स्वयं कष्टमय जीवन स्वीकार करके, पतियों को कर्तव्य पथ पर धकेलने वाली वीर नारियाँ घर-घर में मौजूद थीं। वे उन्हें नीचे नहीं गिराती थीं वरन ऊँचा उठाती थीं। पुत्रों को गुरुकुल के लिए पतियों को धर्मयुद्ध के लिए भेजते हुए वे मोहग्रस्तता के आँसू नहीं बहाती थीं वरन गर्व-गौरव के साथ आरती उतारते हुए विदा करती थीं। हाड़ा की रानी की तरह उन्हें अपना सिर कांटकर पति को मोहग्रस्तता से उबारने में आपत्ति नहीं होती थी। पन्नादाई को अपना बच्चा प्यारा तो था, पर सौँपे हुए कर्तव्य से अधिक नहीं। उसने स्वामी का बच्चा बचाने के लिए अपने लाड़ले की आहुति चढ़ाते हुए आघात तो सहा पर मन यह सोचकर हलका कर लिया कि उसने नारी की गरिमा की एक उपयुक्त स्थापना करने में गौरवमयी परंपरा सही रूप में निभाई। चित्तौड़ की रानियों ने अपना शरीर नहीं, नारी का साहस जीवित रखना उचित समझा और वे जीवित जलने जैसे कष्ट को सहने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गईं।

विवाह हर लड़की के लिए न तो आवश्यक है और न अनिवार्य, यदि किसी में लोक-कल्याण के लिए कुछ कर गुजरने का साहस हो तो उसे अविवाहित रहकर अपनी शक्तियों का पूर्ण समर्पण लोकमंगल के लिए करना चाहिए। इसके अगणित उदाहरण प्राचीन इतिहास के पृष्ठों पर अंकित हैं। मनु-पुत्री इला ने ब्रह्मवादिनी का आदर्श निभाया और वे ब्रह्मवेत्ताओं में अग्रणी थीं। ऋग्वेद में घोसा, गोधा, विश्ववारा, अपाला, जुहू, अदिति, सरमा, रोमशा, उर्वशी, लोपामुद्रा, शाश्वती, सूर्या आदि ब्रह्मवादिनी महिलाओं का वर्णन मिलता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सीता और सावित्री नामक दो ब्रह्मवादिनियों का वर्णन है। सिद्धा, सुलभा, शिवा, श्रीव्रती, स्वधा, वपुना आदि कितनी ही कन्याएँ ऐसी हुई हैं जिन्होंने गृहस्थ में प्रवेश करने की

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १८

अपेक्षा पुरुष ऋषियों की भाँति लोकमंगल के लिए अपना जीवन समर्पित किया और यह सिद्ध किया कि नारी के लिए विवाहित होना कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। वह पुरुष की तरह ही इच्छा और रुचि का विषय रहा है।

भारत की समुन्नत परिस्थिति और परिष्कृत मनःस्थिति का श्रेय यहाँ के ऋषियों को दिया जाता है। यह उचित भी है। उज्ज्वल चरित्र, उत्कृष्ट चिंतन और साहसिक पुरुषार्थ का त्रिविध समन्वय जिन व्यक्तियों में होगा वे स्वयं तो उँचे उठेंगे ही अपने साथ-साथ लोकमानस को और समस्त वातावरण को भी ऊँचा उठाएँगे। ऋषियों की क्रिया-प्रक्रिया यही थी। वे सार्वजनिक क्षेत्र के हर पक्ष को देखते और सँभालते थे। द्रोणाचार्य, विश्वामित्र, परशुराम जैसे ऋषि धनुर्वेद में पारंगत थे। ये शस्त्र निर्माण और संचालन की शोध एवं शिक्षा के कार्य में संलग्न थे, ताकि असुरता से सफलतापूर्वक जूझा जा सके। चरक, सुश्रुत, वागभट्ट, अश्विनी कुमार, धन्वंतरि जैसे ऋषि स्वास्थ्य संबंधित और चिकित्सा के रहस्यों को ढूँढ़ने और उन्हें सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत करने में संलग्न थे। नागार्जुन, हारीत और सुषेन जैसे ऋषि रसायन विद्या के विकास और विस्तार में जुटे हुए थे। विश्वकर्मा, शतोधन जैसे ऋषियों ने शिल्प एवं वास्तुकला के संबंध में जो खोजा उससे विश्व सौंदर्य में असाधारण वृद्धि हुई। नारद, उपमन्यु, उद्दालक जैसे ऋषि स्वर शास्त्र के सामगान में पारंगत थे। उन्होंने गान-वाद्य की कला के मर्मों से जन मानस को आंदोलित किया और उसके रसास्वादन का विधि-विधान समझाया।

उत्कच, विद्रुध, महानंद जैसे ऋषि कृषि और पशुपालन का विज्ञान विकसित करने में जुटे थे। व्यास परंपरा के ऋषियों ने शास्त्र रचना की मुहिम सँभाली। सूत परंपरा के ऋषि प्रवचनकर्ता थे। चाणक्य, याज्ञवल्क्य, कंव, धौम्य जैसे ऋषियों द्वारा विश्व विद्यालय स्तर के शिक्षा संस्थान चलाए जाते थे। छोटे-बड़े गुरुकुल तो प्रायः

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १९**

सभी ऋषि चलाते थे। कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि जैसे दार्शनिकों द्वारा विश्वमानव की बौद्धिक क्षुधा बुझाने के लिए बहुमूल्य प्रतिपादन किए जाते रहे। वसिष्ठ, शुक्राचार्य, विदुर आदि ऋषि राजतंत्र का मार्गदर्शन करने में निरत थे। च्यवन, दधीचि आदि ऋषियों ने तप साधना करके मानवी अंतःस्थल में छिपी रहस्यमय शक्तियों के उपयोग का पथ प्रशस्त किया था। लोकमंगल के अनेकानेक प्रयोजनों में यह ऋषि वर्ग के लोग निरंतर संलग्न रहते थे।

अनीतिपूर्ण प्रतिबंधों को धर्म-मर्यादा का नाम जब भी दिया गया तब तुरंत उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया गया। बड़े भाई की आज्ञा छोटे भाई को माननी चाहिए—इस मोटे अनुशासन के नियम के साथ जब अनीति को जोड़ा गया तो विभीषण ने अपने बड़े भाई का परामर्श मानने से स्पष्ट इनकार कर दिया। हिरण्यकशिपु पिता तो था, पर वह जो कहता था अनीतिमूलक था। प्रह्लाद उसके विरुद्ध तनकर खड़ा हो गया और अंत तक विरोध पर डटा रहा। भरत ने माता का कहना न मानकर राज लेने के आदेश को स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। राजा बलि ने गुरु शुक्राचार्य की अवज्ञा करके वामन को दान देने का साहस दिखाया। एक ओर जहाँ धर्म अनुशासन पालन के लिए भारतीय संस्कृति में निर्देश हैं, वहाँ यह छुट भी पूरी तरह दी गई है कि यदि स्वजन अथवा बड़े कहे जाने वाले लोग भी अनीति के लिए बाध्य करें तो स्वीकार करने से स्पष्ट इनकार कर दिया जाए।

व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को परामर्श प्रयोजनों के लिए निछावर करते रहने में हर व्यक्ति ने यहाँ अपने को सौभाग्यशाली माना है। दधीचि ने अपनी अस्थियाँ निकालकर देवताओं को दे दीं। शुनिशेष नरमेध की प्रथम आहुति बनने के लिए आगे आया। मोरध्वज को पुत्र दान में संकोच नहीं हुआ। शिवि ने अपना मांस निकालकर दिया। हरिश्चंद्र ने अपनी सारी संपदा विश्वामित्र को सौंपी। संयमराय ने अपने स्वामी पृथ्वीराज के युद्धक्षेत्र में घायल होने पर प्राण बचाने

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २०**

के लिए अपने अंग काट-काटकर गिद्धों को डाले थे और उस समय की स्वामी-सेवक के बीच भरी रहने वाले वफादारी का उदाहरण प्रस्तुत किया था। तब हर घर में भामाशाह थे। संचित पूँजी को परमार्थ के लिए सुरक्षित अमानत भर माना जाता था, समय आने पर देने में किसी को कोई संकोच नहीं होता था।

आदर्शवादी उदाहरणों का उल्लेख करते रहना असंभव है, क्योंकि प्राचीन भारत में प्रायः हर व्यक्ति आदर्शवादी था। संकीर्ण स्वार्थपरता से भरा व्यक्तिवाद उन दिनों भर्त्सनीय आसुरी प्रकृति में गिना जाता था। ऐसे निकृष्टता के उदाहरण कदाचित ही कहीं दीख पड़ते थे।

भारत की सर्वतोमुखी प्रगति और गौरव-गरिमा के अंतराल में वस्तुतः यही महानता का भावनात्मक इतिहास छिपा पड़ा है। इसी के फलस्वरूप यह देश भौतिक संपदाओं से संपन्न रहा। हर्षोल्लास के प्रचुर साधनों से भंडार भरे रहे। शारीरिक बलिष्ठता और मानसिक प्रबुद्धता का स्तर बहुत ऊँचा रहा। मनुष्य, मनुष्य के बीच सघन आत्मीयता बिखरी पड़ती थी। मिल-जुलकर कमाने-खाने की प्रवृत्ति ने हर क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति का पथ प्रशस्त किया था, संयमशीलता, सज्जनता, सादगी और शालीनता की विभूतियाँ हर व्यक्ति को उपलब्ध थीं। गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता में प्रत्येक एक दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्द्धा में निरत था। उन परिस्थितियों में सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य था। यहाँ के निवासी देवता कहे जाते थे और यह देश स्वर्ग माना जाता था। इस वैभव को भारतवासियों ने अपनी भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं रखा, वरन विश्व के कोन-कोने में जाकर बिखेरा। इससे हमारे महान पूर्वज धन्य हुए और उनके महान कर्तृत्व से समस्त भूमंडल कृत-कृत्य हुआ। यही है हमारे भूतकालीन इतिहास की एक झलक। इसी मार्ग का अनुगमन करने के लिए युग की आवश्यकता पुकार-पुकारकर हमारा आवाहन कर रही है।



**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २१**

# तीर्थयात्रा हमारी पुण्य परंपरा

यह सही है कि जहाँ फूल खिलता है, वहाँ मधुमक्खियाँ, तितलियाँ और भौर खिंचते चले आते हैं। संसार के कोने-कोने से ज्ञान की क्षुधा और संपदा की आवश्यकता पूरी करने के लिए यहाँ विभिन्न वर्गों के लोग आते थे और अपनी मनोकामनाएँ पूरी करके लौटते थे। पर यह भी सही है कि मलयज पवन अपने वैभव को बिखेरने दरवाजे-दरवाजे जाता है। सूर्य की किरणें वीरान पहाड़ों को भी प्रकाशित करती हैं, बादल दुर्गम महा-वनों को भी शीतल करते हैं। संत परिव्राजक बनकर पिछड़े हुए क्षेत्रों में स्वयं पहुँचते हैं। अशक्त रोगी तो अस्पताल पहुँच नहीं पाता उसके घर तक डॉक्टर को ही पहुँचना पड़ता है।

भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और उसका बढ़-चढ़ कर पुण्य माहात्म्य गाया गया है। यह तीर्थयात्रा आज की लकीर पीटने वाली विडंबना से सर्वथा भिन्न थी। आज तो अमुक स्थान पर बने अमुक मंदिर की प्रतिमा के दर्शन करने, अमुक नदी सरोवर में नहा लेने को तीर्थ मान लिया जाता है। रेल, मोटर आदि द्रुतगामी वाहनों में सवार होकर लोग वहाँ जाते हैं। प्रसाद पैसा चढ़ाते हैं, दर्शन-स्नान से निवृत्त होकर उलटे पाँव लौट आते हैं और मान बैठते हैं कि पुण्य मिल गया। यह आज के अंधकार युग की अविवेकी मान्यताएँ हैं। जो प्राचीन काल के क्रिया-कलाप की भौंडी नकल है। वास्तविक प्रयोजन को तो लोग समझने की चेष्टा तक नहीं करते।

प्राचीन काल में लोग अपना घर छोड़कर सुदूर क्षेत्र की पैदल यात्रा करते थे। संत विनोबा भावे की तरह वे गाँव-गाँव पड़ाव डालते थे। वहाँ की समस्याओं का समाधान करने के लिए परामर्श एवं सहयोग प्रदान करते थे। अमुक स्थान पर एक रास्ते से जाते और फिर दूसरे रास्ते से लौटने का कार्यक्रम रहता था। इसलिए उसे

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २२

परिक्रमा, प्रदक्षिणा कहा जाता था। इससे अधिक स्थानों से संपर्क बना सकना संभव होता था। कहाँ तक जाना है, इसके लिए कोई तीर्थ चुन लेते थे। तीर्थ तो भारत का हर गाँव, नगर और वन था। किसी स्थान विशेष का महत्त्व न था। सुविधानुसार कोई भी स्थान चुन लिया और उस लक्ष्य स्थान के नाम पर तीर्थयात्रा का नामकरण कर दिया। लोग टोलियाँ बनाकर प्रचार मंडली, श्रमदान मंडली, सहयोग मंडली के रूप में निकलते थे। उसमें ऐसे सभी वर्गों के लोग सम्मिलित रहते थे जो जन समस्याओं के समाधान में अपनी क्षमताओं को दे सकने योग्य हों। आवश्यक नहीं था कि वे तीर्थयात्रा मंडलियाँ धकापेल चलती रहें और एक दिन ही रहने की लकीर पीटें। जहाँ आवश्यकता समझी जाती, वहाँ अधिक दिन का भी पड़ाव डाला जाता था और यदि उपयोगिता समझी गई तो दल के कुछ सदस्य वहाँ अधिक दिनों के लिए अथवा सदा के लिए ही रुक जाते थे। शेष लोग आगे के लिए प्रयाण करते थे।

यह तीर्थयात्रा प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्य मानी जाती थी। इसलिए लोग वानप्रस्थ, संन्यास में तो निश्चित रूप से लंबी और दीर्घकालीन तीर्थयात्राएँ करते थे। जिनसे बन पड़ता था, वे गृहस्थ भी कुछ दिन के लिए अवकाश लेकर इस धर्म प्रशिक्षण के लिए निकलते थे और घर वालों से कह जाते थे कि प्रयत्न नियत अवधि में ही यात्रा पूरी करने का करेंगे, परंतु यदि मार्ग की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं ने बाध्य किया तो अधिक समय भी लग सकता है। इसलिए जो प्रबंध उनकी अनुपस्थिति में आवश्यक व्यवस्था सँभालने के लिए किया गया है, उसे आगे भी जारी रखा जाए। उन दिनों सम्मिलित कुटुंब प्रथा थी। हर परिवार यह आवश्यक समझता था कि उसका कम से कम एक सदस्य तो तीर्थयात्रा पर रहे ही। एक वापस आ जाए तो दूसरा चला जाए। जो जाए उसकी गृहस्थी का पालन-पोषण संयुक्त परिवार करे।

---

समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / २३



परिव्राजक लोकसेवक लोकमंगल की वही आवश्यकता पूरी करते थे जो पवन, सूर्य, बादल आदि घर-घर पहुँचकर जीवन दान देने के लिए अनवरत क्रम से करते रहते हैं। साधु और ब्राह्मणों के लिए तो परिव्रज्या अनिवार्य ही थी। गृहस्थ भी उस पुण्य प्रयोजन में सहयोग करने से पीछे नहीं रहते थे। प्राचीन भारत की इस पुण्य परंपरा ने ऐसे सुयोग्यतम भावनाशील लोकसेवी विपुल संख्या में निकाले थे जो अपने क्षेत्र तक अपनी प्रतिभा को अवरुद्ध न करके उसका व्यापक क्षेत्रों में उपयोग करके अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका का संपादन करते थे।

पुण्य किसी के मत्थे चाँदी-ताँबे के टुकड़े फेंक देने से नहीं हो सकता। इससे तो ज़ोगों में भिक्षा से हीन वृत्ति और अकर्मण्यता उत्पन्न होती है। असली दान तो पिछड़े हुए लोगों को ऊपर उठाने के लिए उन्हें संभव सहयोग प्रदान करना ही हो सकता है। इसके लिए व्यक्तिगत संपर्क, प्रोत्साहन एवं क्रियात्मक सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। चिरस्थायी सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली पुण्य प्रक्रिया यही है। आपत्तिकाल में किन्हीं संकटग्रस्त लोगों को अन्न-वस्त्र-निवास आदि देने की भी आवश्यकता पड़ती है, पर स्थिर समाधान तो उन कारणों को हटाने से ही संभव है, जिन्होंने व्यक्ति को विपन्न परिस्थितियों में धकेला। इस उद्देश्य की पूर्ति जनसंपर्क और जनसहयोग में अपने आपको घुलाए बिना अन्य किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। सुदूर देशों की समस्याओं को समाधान देने के लिए उन क्षेत्रों में जाना आवश्यक था, इसलिए जिनमें परमार्थ भावना की प्रखरता होती थी, वे तीर्थयात्रा के लिए साहस एकत्रित करते थे और उनके साधन जुटाते थे।

जनता इन तीर्थयात्राओं की उपयोगिता समझती थी, इसलिए इनकी शरीर यात्रा का समुचित प्रबंध करने के लिए आवश्यक व्यवस्था जुटाने वाले साधन खड़े करना परमार्थ प्रयोजनों में ही गिनती थी। धर्मशालाएँ विशुद्ध रूप से धर्मप्रचारकों के निवास के लिए ही बनती थीं। भोग भंडार का प्रबंध इसलिए रहता था कि तीर्थयात्रा वाले परिव्राजकों को सुविधापूर्वक भोजन मिल जाए। अन्नक्षेत्र भी इसीलिए खोले जाते थे। प्याऊ इन

पथिकों के लिए ही थी। अतिथि सत्कार का जो प्रचलन था उसमें भी यही भाव था कि साधु-संस्था के सदस्य संत-ब्राह्मण-तीर्थयात्री जिधर से निकलें उधर उन्हें शरीर यात्रा संबंधी किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े। सद्गृहस्थ इस आवश्यकता को जुटना अपना पुण्य कर्तव्य समझें, यही था अतिथि सत्कार। माता-पिता और गुरु के समान ही अतिथि को भी माना गया था। अतिथि का स्पष्ट अर्थ धर्मप्रचारक है। उन दिनों तीर्थयात्रियों को शरीर निर्माण की सुविधाएँ हर जगह सरलतापूर्वक मिल जाती थीं। इसलिए वे अपना कार्य अपरिग्रही रहकर भी सुविधा के साथ संपन्न करते रहते थे।

सुयोग्य लोकसेवी अन्य क्षेत्रों में रहकर ही सेवा कार्य करें, यह तो बहुत घाटे का काम था। हर जगह मोती उगते नहीं। समुद्र के अमुक क्षेत्र से संग्रह करके उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में भेजना पड़ता है। हाथी हर जगह कहाँ होते हैं, जहाँ उनके झुंड हैं, वहीं से पकड़-पकड़कर उन्हें जगह-जगह ले जाया जाता है, संत और लोकसेवक हर गाँव, हर नगर में तो होते नहीं। वे कहीं-कहीं और कभी-कभी ही पैदा होते हैं। उन देव विभूतियों की सार्थकता इसी में है कि वे परिभ्रमण करके सूर्य, चंद्रमा और पवन-वरुण की तरह जगह-जगह पहुँचें और वहाँ के निवासियों की आवश्यकता पूरी करें। यदि हर लोकसेवक अपनी जन्मभूमि में ही कार्य करने की सोचे तो फिर बहुत थोड़े स्थानों में ही प्रकाश टिमटिमाता दिखाई देगा। और अन्य सभी जगह अंधकार छाया रहेगा। सम वितरण, सम विभाजन के साम्य सिद्धांत की मांग यही है कि एक क्षेत्र में उत्पन्न हुई विशेष संपत्ति को वहीं तक सीमित न रहने दिया जाए वरन उससे अधिकाधिक लोगों को लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए। धरती सभी की है, यदि अमीर लोग ही उस संपदा को दबाकर बैठ जाएँ तो धरती माता के अन्य पुत्रों को माता के पयपान से वंचित रहना पड़ेगा। क्षेत्रीय सीमाओं तक संकुचित रहने की बात धर्म और विवेक में से किसी भी कसौटी पर सही नहीं उतरती। लड़की जिस घर में पैदा होती है, वह सयानी होने पर उसी में नहीं बनी

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / २५**

रहती, वरन दूसरा घर बसाती है। इसी प्रकार उदारचेता लोकसेवी भी अपने ही स्थान पर सदा-सर्वदा के लिए जमे रहने की बात नहीं सोचते, उन्हें वे स्थान ढूँढ़ने पड़ते हैं, जहाँ अंधकार अधिक है और वहाँ जाकर वे अधिक महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकते हैं।

तीर्थयात्रा इन्हीं समस्त आदर्शों को अपने भीतर भरे बैठी है। उस महान परंपरा में विश्वमानव के सुख-सौभाग्य के उज्ज्वल भविष्य की समस्त संभावनाएँ छिपी पड़ी हैं। इसलिए उसे अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण फलदायक धर्मकृत्य माना गया है। प्राचीन भारत में प्रबुद्ध और समर्थ व्यक्ति अपनी मंडलियाँ लेकर इस महान प्रयोजन के लिए लंबी यात्राओं का कार्यक्रम बनाते थे और निश्चय करते थे कि वे सुविधाजनक स्थानों में रहने की लुब्ध दुर्बलता को मन में आश्रय न देकर वहाँ निवास करेंगे, जहाँ अधिक पिछड़ापन है और जहाँ उनकी प्रतिभा का अधिक अच्छा उपयोग संभव है।

इस तीर्थयात्रा प्रवृत्ति को प्राचीन भारत में पूरी तरह हृदयंगम किया गया था और उसे पूरी तरह कार्यान्वित किया गया था। यही कारण है कि यातायात की घोर दुर्गमता रहने पर भी प्रकाश वितरणकर्ता वहाँ तब जीवन का संदेश लेकर पहुँचे और अपना सर्वस्व होम कर भगीरथ प्रयत्नों द्वारा अज्ञान, अभाव और अशक्ति का उन्मूलन किया तथा सर्वतोमुखी सुख-समृद्धि की गंगा बहाई। यही कारण था कि भारत में कहीं भी पतन और पिछड़ापन दृष्टिगोचर नहीं होता था। क्या सुविधा भरे और क्या असुविधा के सभी क्षेत्रों में उदीयमान सौभाग्य सूर्य का आलोक परिलक्षित होता था। इस पुण्य भूमि को स्वर्गोपम देवभूमि बनाने में इन तीर्थयात्रियों की प्रमुख भूमिका रहती रही है।

लोकसेवी परिव्राजक संतों ने अपनी गतिविधियाँ भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर अवरुद्ध नहीं कीं वरन समस्त विश्व को अपना घर और समस्त मानव जाति को अपना परिवार माना। अस्तु, वे पिछड़ेपन से जूझने के लिए दुर्गमता को चुनौती देते हुए धरती के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में प्रसन्नतापूर्वक गए और यदि लौटना आवश्यक न लगा

तो वहीं डेरा डालकर बस गए। जहाँ जन्मा जाए वहीं रहा जाए, यदि यही आग्रह होता तो हिमालय की बर्फ गलकर नदियों के रूप में शुष्क क्षेत्रों को सींचते हुए आत्मसमर्पण करने के लिए समुद्र तक दौड़े जाने का कष्ट न उठती। फिर समुद्र का जल बादल बनकर अन्यत्र बरसने को सहमत न होता और सृष्टि का सारा क्रम-संतुलन ही बिगड़ जाता। महामानवों का चिंतन भूमि या परिधि से ऊँचा उठा हुआ होता है। उनकी आत्मीयता किसी भी खंड से नहीं बँधती, वरन वे अधिक विपन्नता से अधिक कड़ा संघर्ष करने का लक्ष्य सामने रखकर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करते हैं। अस्तु, इस देश के महामानवों की दृष्टि इस बात पर जमी रही कि किस भूखंड में किस स्तर का पिछड़ापन अधिक है और वहाँ पहुँचकर किस क्रिया पद्धति को अपनाकर किन समस्याओं को कैसे हल किया जाए? यही थी उस जमाने की धर्म विस्तार पद्धति। इसमें केवल पूजा-पाठ शास्त्र-वाचन ही धर्म सेवा नहीं माना जाता था वरन स्थानीय समस्याओं में से प्रत्येक के समाधान को धर्मसेवा में सम्मिलित कर लिया जाता था। अधिक जटिल समस्या को सर्वप्रथम समाधान के लिए हाथ में लिया जाता था।

इस परिष्कृत दृष्टिकोण को लेकर भारतीय तीर्थयात्री, धर्मप्रचारक, लोकसेवी विश्व के विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों में पहुँचे और वहाँ की शासन प्रक्रिया को दिशा, प्रेरणा देकर सुव्यवस्थित किया। स्पष्ट है कि सुशासन के बिना प्रजा को स्थिरता एवं प्रगति का लाभ मिल ही नहीं सकता। भारतीय धर्मप्रचारकों ने सुदूर देशों की कबाइली सामंत शाही को हटाकर वहाँ प्रजा द्वारा प्रजा के लिए शासन का लक्ष्य लेकर सुशासनों की स्थापना की। इस संस्थापना नेतृत्व के लिए उन्हें कृतज्ञतापूर्वक चक्रवर्ती कहा गया। जहाँ संपत्ति के अभाव में दरिद्रता का साम्राज्य था; वहाँ कृषि, पशुपालन, शिल्प, उद्योग आदि की सुव्यवस्था बनाकर संपन्नता के साधन जुटाए, इसलिए उन्हें वरदानी भूदेव कहा गया। अशिक्षा और अविद्या से छुटकारा दिलाकर वैयक्तिक और सामाजिक समर्थता का पथ प्रशस्त

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २७**

किया ,इसलिए उन्हें जगद्गुरु का सम्मान मिला। यह सर्वतोमुखी सेवा साधना थी। भारतीय परिव्राजकों से ऐसा ही बहुमुखी लाभ समस्त संसार की जनता ने उठाया। उन दिनों धर्म शब्द का प्रयोजन मानव जाति की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए की किया जाता था। पूजा-पाठ अथवा प्रथा-प्रचलनों की छोटी सी सीमाओं में धर्म का विशाल कलेवर सीमाबद्ध हो भी नहीं सकता था। धर्मशास्त्रों, धर्मकृत्यों एवं प्रचलनों की अमुक पद्धति थी तो, पर वह रूढ़ि मात्र नहीं थी। उसके आधार पर मानव जाति के समस्त पक्षों को समुन्नत एवं परिष्कृत किया जाता था। उसी प्रयोजन के लिए भारतीय दर्शन एवं धर्म का तत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मविद्या की साधना एवं उपासना का विशालकाय ढाँचा खड़ा किया गया था।

प्राचीनकाल में यातायात आज की तरह सरल न था। तब रेल, मोटर आदि का नाम न था। न तो बढ़िया सड़कें थीं और न नदियों पर सुदृढ़ पुलों की व्यवस्था थी। ऊबड़-खाबड़ कच्ची सड़कें, जगह-जगह नदी-नालों के अवरोध, सुदूर क्षेत्र में फैले सघन वन, जल और वनस्पति से रहित मरुस्थल, झूसह, व्याघ्र, सर्प आदि हिंसक जंतुओं के आक्रमण, डाकुओं का बाहुल्य, हिमाच्छादित गिरि-शृंग, ग्रीष्म में तपता भूतल, कीचड़-दलदल की सड़ी जल-वायु-भोजन, जल और निवास संबंधी घोर असुविधा, भाषा भिन्नता के कारण दूर देश के लोगों से विचार-विनिमय की कठिनाई, स्थानीय प्रथा परंपरा से अपरिचित होने के कारण विग्रह की संभावना, अजनबी लोग, अपरिचित क्षेत्र जैसी असंख्य कठिनाइयों के कारण उन दिनों लंबी यात्राएँ करनी स्पष्टतः एक दुस्साहस था। उस ओर कदम बढ़ाने वाले हथेली पर जान रखकर ही उस प्रकार का निर्णय करते थे।

ऐसी साहसिक यात्राएँ कोई छोटे स्वार्थों को लेकर नहीं कर सकता। स्वार्थ तो तात्कालिक लाभ खोजता है जिसमें कष्ट अधिक सुख कम हो, उसे कभी कोई स्वार्थपरायण व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। क्षुधार्थ या आपत्तिग्रस्त तो जीवन रक्षा के लिए दूर देशों

में भी जा सकता है, पर जिस देश में सुख-सुविधाओं का बाहुल्य हो वहाँ के लोग उस आनंदी जीवन को छोड़कर प्राण संकट में डालने वाली यात्रा के लिए कटिबद्ध हों तो समझना चाहिए कि उन्हें कोई अत्यंत उच्चकोटि की अंतःप्रेरणा ने ही आंदोलित किया होगा। सचमुच ऐसा ही होता था। लोकमंगल के लिए अधिकाधिक तप-त्यागकर सकने योग्य साहसी आत्मबल-यही तो आध्यात्म साधना की एकमात्र उपलब्धि है। व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता एवं महानता जब प्रखर परिपक्व हो जाती है तो वे जन कल्याण के लिए बड़े-चढ़े दुस्साहसी पुरुषार्थ करने के लिए मचलते हैं। इसी छटपटाहट से भारतीय महामानवों का अंतःकरण उद्वेलित रहता था और वही तड़पन विश्व कल्याण के निमित्त घर छोड़कर सुदूर देशों के लिए महाप्रयाण के रूप में फलित होती थी। यही थी प्राचीनकाल की तीर्थयात्राएँ, जिन्हें यहाँ के आस्था क्षेत्र में अत्यंत गहरा और अत्यंत सम्मानस्पद गौरव प्रदान किया गया था। तीर्थयात्री अपनी आँखों और दूसरों की आँखों में एक प्रकार से बलिदानी शहीद स्तर के माने जाते थे। उनका कर्तृत्व कितने लोगों का कितना उच्चस्तरीय हितसाधन करेगा, इसका चित्र जब कभी किसी की आँखों के सामने उपस्थित होता था, वह उनके आगे सहज ही श्रद्धावनत खड़ा होता था। उन दिनों तीर्थयात्री पृथ्वी पर विचरण करने वाले स्वर्ग लोक के देवता ही माने जाते थे। उनका दर्शन, सान्निध्य प्राप्त कर एवं उनको सहयोग देकर सामान्य नागरिक कृतकृत्य हुए बिना नहीं रहता था।




---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / २९**

# पूर्वजों की पुण्य परंपराएँ हम फिर अपनाएँ

संसार के कोने-कोने में संस्कृति, समृद्धि और व्यवस्था की स्थापना करना हमारे पूर्वपुरुषों ने अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य माना था। इसके लिए वे सबसे पहले आत्मनिर्माण करते थे। अपने व्यक्तित्व को हर दृष्टि से उपरोक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त बनाते थे। जैसा खिलोना ढालना हो उसके अनुरूप साँचा तैयार करना पड़ता है। गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से आदर्श सिद्ध होने वाले व्यक्ति ही अपने चरित्र एवं चिंतन की छाप दूसरों पर छोड़ सकते हैं। निकृष्ट स्तर के लोग उत्कृष्टता का उपदेश करें तो उपहासास्पद विडंबना ही बन जाती है। लोग उन उपदेशों का पालन करना तो दूर उलटे उस उपदेशक की तरह उसके उपदेशों, प्रतिपादनों को भी दिल्लगी की बात समझते हैं। यह तथ्य प्राचीन काल में भली प्रकार समझ लिया गया था। अस्तु, यहाँ के नर रत्न अपने आप को तप, साधना, संयम की अग्नि में तपाकर खरा सोना बनाते थे और विद्या, प्रतिभा एवं शालीनता के लिए घोर परिश्रम करते थे।

आत्म समर्पण और लोक मंगल ये दो कार्य अलग-अलग दीखते हैं, पर वस्तुतः वे दोनों परस्पर अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी सुविकसित महानता लोक-कल्याण के लिए अग्रसर हुए बिना चैन से बैठ ही न सकेगी और जो सच्चे मन से जन-कल्याण की परमार्थ सेवा साधना करना चाहता हो, उसे वह कार्य आत्मोत्कर्ष के लिए उग्र प्रयास करते हुए आरंभ करना होगा। वस्तुतः आत्मोत्कर्ष और लोक-कल्याण महान जीवन रूपी रथ के दो पहिये हैं जिनके सही होने पर ही अभीष्ट दिशा में गतिशीलता उत्पन्न होती है।

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३०

भारतीय जीवन का आदर्श और उसका क्रिया-कलाप बार-बार कसौटियों पर कसने से यही दो लक्ष्य सामने आते हैं, जिनके लिए इस देश के महान नागरिक निरंतर घोर प्रयत्न करते रहे। उनकी महत्वाकांक्षाएँ इन्हीं दो लक्ष्यों के इर्द-गिर्द घूमती हैं, फलतः प्रगति भी आशातीत हुई। भारत स्वयं तो समुन्नत रहा ही है, उसने अन्यत्र भी अपनी विभूतियाँ बिखेरीं और विश्व मानव की गौरव गरिमा में चार चाँद लगाए।

जब से संसार में लिखित न सही अलिखित इतिहास के सूत्र मिलते हैं, तब से ऐसे ही प्रमाण सम्मुख आते हैं जिसमें भारतीय नर-रत्नों द्वारा व्यापक क्षेत्र में विविध विध सेवा साधन के सत्कृत्य प्रस्तुत किए जाते रहे। उन दिनों वस्तुतः समस्त संसार ही भारत का अपना कार्यक्षेत्र था। रात्रि विश्राम के लिए या अंडे देने के लिए जिस प्रकार पक्षी किसी पेड़ पर घोंसला बना लेते हैं और थकान दूर करके फिर उन्मुक्त आकाश में उड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार यहाँ नई पीढ़ियों के प्रजनन प्रशिक्षण के सुविधा साधन जुटाए जाते थे। थोड़े लोग निर्वाह साधने की व्यवस्था भी करते थे। इससे आगे जो जन बल, बुद्धि बल और धन बल बच जाता था, उसे विश्व-कल्याण के एकमात्र प्रयोजन के लिए ही नियोजित किया जाता था। हमारे देश में यही परंपरा थी। हर भावनाशील का चिंतन और कर्तृत्व इसी दिशा में गतिशील था। परिणाम प्रत्यक्ष है। भारत के देवमानव अपने देश में सतयुगी स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनाएँ रहे, साथ ही विभूतियों के अवशेष सुदूर क्षेत्रों में बिखेरकर मानवता का अविस्मरणीय कीर्तिमान स्थापित करते रहे।

इसके प्रमाण जिस भूखंड में ढूँढ़े जाएँ, मिल जाएँगे। पौराणिक कथा-प्रसंगों से इस तथ्य का प्रतिपादन भली प्रकार होता है। किसी भी देश की पौराणिक गाथाओं, लोककथाओं और किंवदंतियों का विश्लेषण किया जाए तो निष्कर्ष एक ही निकलेगा कि भारतभूमि के निवासी देवपुरुष उस क्षेत्र में पहुँचकर ऐसी स्थापनाएँ करते रहे

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३१**



जिनसे दुःख की दयनीयता का सुख सौभाग्य में परिणत हो सकना संभव हुआ। दैवी सहायता के रूप में भारत से प्रकाश एवं सहयोग का आशातीत अनुदान प्राप्त हुआ।

जब से भग्नावशेष, वास्तु प्रमाण आदि के प्रमाण मिलने आरंभ हुए हैं, तब से उन भारतीय गौरव गाथाओं की, प्रचलित दंतकथाओं की और भी अधिक पुष्टि होती गई है। उसके उपरांत लिखित इतिहास का समय आता है। भाषा और लिपि का विकास विस्तार होने के उपरांत संसार में आगे-पीछे लेखन कार्य आरंभ हुआ और उसमें तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन किया गया। उसमें से असंख्य लेख प्रमाण नष्ट होते गए। उनमें से जहाँ-जहाँ जो प्रमाण मिले उनमें सबकी दिशा एक ही है कि सृजन का नेतृत्व करने वाले भूदेव उस भूमि को समुन्नत बनाने में अधिक परिश्रम करते रहे। उस क्षेत्र की विकृतियों के साथ प्राणपण से जूझे। शिलालेख, काष्ठ फलक लेख, चर्मपट्ट लेख, भोजपत्र लेख, भित्ति लेख आदि के प्राचीनतम प्रमाण जहाँ भी मिले हैं, वहीं से भारतीय गरिमा की प्रामाणिकता ही सिद्ध हुई है। वस्तुतः सभ्यता की जन्मदात्री यह भारतभूमि ही है और यहीं से उदय हुआ सर्वतोमुखी उत्कर्ष का सूर्य समस्त विश्व में अपनी प्रकाश की किरणें फैलाता चला गया। यह क्रम हजारों-लाखों वर्षों तक चला गया। पीछे पतन और पराभव का युग आया। इस देश के निवासियों में स्वार्थ बुद्धि जगी, व्यक्तिवाद पनपा, निजी सुख-सुविधाओं के बढ़ाने की बात सूझी, विलास-लिप्सा में मन डोला, अहंकार की तृप्ति के लिए संग्रह और वर्चस्व के प्रदर्शन की दुर्बुद्धि जगी। लोग सामूहिक स्वार्थ की उपेक्षा करके व्यक्तिगत वैभव और सुख-साधन बढ़ाने की ओर मुड़े। जहाँ अंतः प्रवृत्तियाँ पतनोन्मुख होंगी, वहाँ बहिरंग क्रिया-कलाप में निकृष्टता दुष्टता आदि की मात्रा बढ़ेगी। कुकृत्य होंगे और गुत्थियाँ उलझेंगी। संकटों और विग्रहों की बाढ़ आएगी। उत्कृष्ट चिंतन की परंपराओं वाला भारत जब संकीर्ण स्वार्थपरता के गर्त में गिरा तो उसकी स्थिति पतितों जैसी दयनीय होती चली गई।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३२**

प्राचीन भारत की समस्त गौरव गरिमा का केन्द्रबिंदु एक ही था कि उस समय का मनुष्य संकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ाँध में मरने वाली मनःस्थिति से घोर घृणा करता था। उसके सामने ऊँचा लक्ष्य रहता था और ऊँचा आदर्श। अपने निकृष्ट अहं की पूर्ति तक सीमित रहने के लिए कोई घिनौना व्यक्ति ही तैयार होता था। पेट और प्रजनन भर के लिए जिसने मानव जीवन का बहुमूल्य अवसर गँवा दिया उसे आत्म प्रताड़ना की, विज्ञ भर्त्सना की इतनी करारी मार सहनी पड़ती थी कि लिप्सा-लालसा में जो हाथ लगता था, वह नगण्य ही रह जाता था। अस्तु, किसी को भी अमीर या बड़ा आदमी बनाने की हविश नहीं उठती थी। हर कोई उदार, महान, व्यापक बनकर जीवनलक्ष्य प्राप्त करने के लिए आतुर रहता था। उसकी गतिविधियाँ, योजनाएँ, आकांक्षाएँ, विचारणाएँ एक ही केंद्र के इर्द-गिर्द घूमती रहती थीं कि वह अपनी आत्मीयता एवं ममता को अधिकाधिक व्यापक कैसे बनाए? सच्चा ईश्वर भक्त, सच्चा अध्यात्मवादी, सच्चा मनुष्य कैसे कहलाए? और उस जीवनलक्ष्य को प्राप्त करने लिए त्याग-बलिदान की सेवा साधना में संलग्न होने के लिए कितना बढ़-चढ़कर दुस्साहस प्रस्तुत करे। अपने क्रिया-कलापों को कितना आदर्श, कितना अनुकरणीय बनाए। पतन, पीड़ा और पिछड़ापन से जूझते हुए कितने प्रखर शौर्य साहस का परिचय दे। अपनेपन का क्षेत्र कितना व्यापक और विस्तृत बनाए? जब अंतःकरण में इसी प्रकार के उफान उठेंगे तो स्वभावतः मनुष्य को उसी राह पर चलना पड़ेगा, जिससे मनुष्यता गौरवान्वित होती हो। स्पष्ट है जहाँ उत्कृष्टता होगी, वहाँ संपन्नता की प्रगति की कभी कमी नहीं रहेगी। ऐसे व्यक्तित्व जहाँ भी रहते हैं, वहाँ संपत्तियों और विभूतियों का इतना बाहुल्य रहता है कि उस समस्त क्षेत्र में वैभव बिखरा पड़ा रहे और उसे समस्त भूमंडल में बिखेरकर सुख-शांति का अजस्र अनुदान दिया जा सके।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३३**

यही है वह मार्ग जिस पर हमारे पूर्वज चले थे। यही थी वह दिशा जिस पर उसके चरण अनवरत गति से बढ़े थे। यही था वह लक्ष्य जिसकी पूर्ति को उन्होंने जीवन का लक्ष्य माना था। इसी स्तर के क्रिया-कलापों में उन्हें संतोष होता था। ऐसे ही कृत्यों में संलग्न रहने में वे अपने श्रम-समय को धन्य मानते थे। फलतः उनका समग्र व्यक्तित्व देवोपम बनता था। वे स्वयं स्वर्गीय शांति का हर घड़ी आनंद लेते थे। उनके कुटुंबी स्नेहसिक्त वातावरण में परिपूर्ण वैभव जितना उल्लास अनुभव करते थे। उनका समस्त प्रभाव क्षेत्र आदर्शवादिता की सुगंध से भरा रहता था। वे चंदन वृक्ष जैसा आत्मविकास करते थे और अपने समीपवर्ती क्षेत्र में उगे हुए झाड़-झंखाड़ों को अपने सरीखे बनाने की मंगलमयी सफलता प्राप्त करते थे। यही था हमारे पूर्वजों का जीवनलक्ष्य, इसी के लिए समर्पित था उनका चिंतन और कर्तृत्व। आंतरिक महानता को बढ़ाकर उन्होंने अपने देश और धर्म को गौरवान्वित किया था और इसी उपलब्धि का यत्किंचित प्रसाद पाकर समग्र मानवता को, समस्त विश्ववसुधा को समुन्नत एवं सुविकसित होने का अवसर मिला था।

हमें इन विश्व संकट के क्षणों में विशेष उत्तरदायित्वों को वहन करना है। अंधकार के निवारण की जिम्मेदारी सूर्य के कंधों पर है। यदि वह इससे इनकार करे तो फिर सौर-मंडल के ग्रह-उपग्रहों का सर्वनाश ही समझना चाहिए।

अपनी प्राचीन गौरव गरिमा को प्राप्त करना, पूर्वजों की कीर्ति को धवल बनाए रहना हमारा परम पवित्र कर्तव्य है। आज जिस पथ भ्रष्टता को अपनाकर हम पतन के गर्त में गिर पड़े हैं उससे निकलने का उत्कृष्ट प्रयास हमें करना चाहिए। प्रगति के पथ पर संसार के अनेक देश निकल गए-हम पिछड़ी स्थिति में पड़े हैं। इस आत्मग्लानि की प्रताड़ना हमें अनुभव करनी चाहिए और कृमि-कीटकों की तरह पेट-प्रजनन के निमित्त जिया जाने वाला निकृष्ट जीवन जीने से हमें इनकार कर देना चाहिए। उदात्त मानवतावादी,

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३४**

आदर्शयुक्त, उत्कृष्ट जीवन क्रम अपनाकर और तदनुरूप दृष्टिकोण अपनाना ही हमारे लिए उचित है। आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक आदि भावनात्मक क्षेत्रों में जो विकृतियाँ घुस पड़ी हैं, उन्हें देखना और सुधारना अपना प्रथम कर्तव्य है। जिन दुर्बलताओं और पथभ्रष्टताओं ने सब प्रकार दीन-हीन बना दिया उनका उन्मूलन करना नवजागरण का प्रथम चरण है। व्यक्तित्व की दृष्टि से परिपक्व होने पर ही हम सच्चे अर्थों में समर्थ, बलिष्ठ और समुन्नत बन सकेंगे। अपने देश के कोने-कोने से विकृतियों और विडम्बनाओं को निकाल बाहर करने के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। आत्मिक और भौतिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होने के लिए हमें पूरे उत्साह एवं साहस का प्रयोग करना चाहिए। अपना पिछड़ापन दूर करके ही मानव जाति की, समस्त विश्व की महती सेवा कर सकना हमारे लिए संभव होगा।

हम व्यक्तिगत रूप से अधिकाधिक प्रगति करें और सामाजिक रूप से अधिकाधिक समुन्नत होने का प्रयास करें, पर साथ ही यह भी ध्यान रखें कि उपलब्ध विभूतियों एवं संपदाओं का उपयोग संकीर्ण स्वार्थपरता के सीमा बंधनों में ही अवरुद्ध न कर दिया जाए। पिछड़ापन जहाँ कहीं भी दिखाई पड़े हम दौड़ जाएँ और प्रगति का प्रयास इस प्रकार वितरित करें कि किसी भी कोने में पतन का अंधकार छिपा न रहने पाए।

हम सदा से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श को अपनाए रहे हैं। विश्व मानव को अपना विस्तार क्षेत्र माना है। अपनेपन की सीमा निज के शरीर परिवार तक अवरुद्ध नहीं करनी चाहिए, वरन उन्हें इतना व्यापक बनाना चाहिए कि भारत भूमि का कोना-कोना उसके प्रकाश से आलोकित हो उठे। समस्त विश्व को उसकी ऊष्मा प्राप्त करने का अवसर मिले।

भूतकाल में आत्मिक दृष्टि से उच्च स्तर पर पहुँचा हुआ भारत अपनी गौरव गरिमा विनिर्मित करने में और समस्त विश्व को अपने

अनुदानों से भर देने में समर्थ हुआ था। वही राजमार्ग फिर हमारा आवाहन करता है। संसार में धन, विज्ञान एवं बुद्धिबल भले ही बढ़ गया हो, तथाकथित प्रगतिशील लोग सुविधा-साधनों से भले ही पट गए हों, पर उनका आत्मिक पिछड़ापन अभी भी उन्हें घोर अशांति में घिरी हुई उलझनों से जकड़े हुए है। निर्धनों, अशिक्षितों, अस्वस्थों से भी कहीं गई-गुजरी मनःस्थिति में इन उन्नतिशील देशों को रहना पड़ता है। उनके सिर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियाँ तो उन्हें भीतर ही भीतर खोखला किए दे रही हैं।

इस स्थिति में भारत अपनी प्राचीन गौरव-गरिमा को विकसित करके न केवल अपना पिछड़ापन दूर कर सकता है, वरन समस्त संसार को इतना अधिक आत्मिक अनुदान दे सकता है, जिसकी तुलना में उनकी अब तक की समस्त भौतिक प्रगति को तुच्छ ठहराया जा सके।

सर्वग्रासी वर्तमान विश्वसंकट के क्षणों में हमें अपनी गतिविधियों का निर्धारण फिर से करना चाहिए, अपनी चिंतन दिशा को फिर से परिष्कृत करना चाहिए, ताकि अपना ही नहीं समस्त संसार का सर्वतोमुखी कल्याण कर सकने में समर्थ हो सकें।

भूतकाल में हमारे पूर्वज समस्त विश्व का मार्ग दर्शन करने में किस प्रकार सफल हो सके, इसके लिए उन्होंने अपने में किस स्तर की क्षमता एवं आदर्शवादिता को विकसित किया, यही इस रचना का मूल उद्देश्य है। विश्व सेवा की दिशा में किए गए पूर्वजों के महान प्रयास हमारे लिए प्रेरक पथ प्रदर्शक बन सकें इसीलिए इतिहास के कुछ महत्वपूर्ण पृष्ठों को फिर से पढ़ना, समझना आवश्यक है। यह पृष्ठ इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए लिखे गए हैं।



# बृहत्तर भारत और उसकी सीमाएँ

प्राचीन भारत का भौगोलिक सीमांकन करना कठिन है? क्योंकि उन दिनों शासन क्षेत्र का बहुत महत्त्व न था। यातायात के साधन कम होने से राजा और प्रजा दोनों को ही बड़े राज्यों में कठिनाई पड़ती थी, इसलिए छोटे-छोटे गणतंत्र ही शासन का विस्तार उतना रखते थे, जितने में सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व आसानी से निभाया जा सके। चक्रवर्ती शासन सत्ता असीम होती थी। वह प्रांत प्रदेश की सीमा से आगे बढ़कर समस्त विश्व में राजकीय नीति एवं मर्यादाओं का नियंत्रण करती थी। कहीं भी अनीति का प्रवेश और उच्छृंखलता का शासन सत्ता में समावेश नहीं होने देती थी। इस प्रकार इन दिनों विश्व राज्य-संघ भी था, जिसे चक्रवर्ती सत्ता कहते थे। छोटे-छोटे गणतंत्र भी थे जो नीति और मर्यादा की दृष्टि से तो पराधीन थे, बाकी अर्थ व्यवस्था एवं शासन संचालन में स्वतंत्र थे।

राजकीय दृष्टि से देखा जाए तो आज जितना बड़ा भारत है उतने में ही सैकड़ों गणतंत्र थे, जो परस्पर सहयोग के आधार पर सर्वतोमुखी प्रगति के लिए मिल-जुलकर बिना किसी विद्वेष, विग्रह के लोक-व्यवस्था के लिए कार्य करते थे। उन दिनों राज्यतंत्र का नहीं लोकमानस पर धर्मतंत्र का शासन था। इसलिए देश की सीमा निर्धारित करते समय यह देखना पड़ता था कि कितना क्षेत्र किस सांस्कृतिक आलोक से प्रभावित और प्रकाशित हो रहा है। इस दृष्टि से भारत की सीमाएँ लगभग विश्व सीमा जितनी थीं क्योंकि यहाँ के तत्त्वदर्शी-विज्ञ मनीषी अपने मस्तिष्क में किसी छोटे क्षेत्र या वर्ग का हितसाधन करने की बात न सोचकर, समस्त विश्व की समृद्धि एवं प्रगति को ध्यान में रखकर अपने चिंतन एवं कर्तृत्व का निर्धारण करते थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३७

की भावना उन्हें किसी क्षेत्र विशेष के हितसाधन तक सीमित रहने नहीं दे सकती थी।

लोक शिक्षण एवं सांस्कृतिक विस्तार की दृष्टि से भारत 'जगद्गुरु' था। शासन नियमन की दृष्टि से चक्रवर्ती। दोनों को मिलाकर सोचा जाए तो यों कहना पड़ेगा कि राजतंत्र और धर्मतंत्र का लाभ समस्त विश्व को निरंतर पहुँचाते रहने के कारण भारत की भौगोलिक मर्यादाएँ समस्त भूमंडल में सुविस्तृत थीं।

भारत का हृदय उत्तराखंड या आर्यावर्त कहा जा सकता है, पर उसका सुविकसित शरीर तो समस्त संसार ही रहा है। यहाँ के निवासी उन दिनों के यातायात साधनों के अनुसार जितने क्षेत्र में पहुँच सके और अपनी सेवा साधना से वहाँ प्रगति एवं समृद्धि का बीजारोपण कर सके उसे बिना संकोच भारत देश कहा जा सकता है। इस सीमा में यों आता तो समस्त संसार है, पर यदि विशिष्ट प्रभाव और विशिष्ट प्रयास को आधार मानकर सीमा निर्धारण किया जाए तो एशिया महाद्वीप का अधिकांश भूखंड भारत की भौगोलिक परंपराओं में आ जाता है।

इन दिनों लंका, नेपाल, भूटान, सिक्किम, बर्मा, पाकिस्तान, बंगला देश, भारत से अलग कट गए हैं। यह सभी इसी शताब्दी तक अपने देश के अविच्छिन्न अंग रहे हैं। एक सौ वर्ष पहले का यदि भूगोल देखा जाए तो यह सभी देश भारत के साथ जुड़े हुए दिखाई देंगे। दखिताग्रस्त कुटुंब में से हर एक किशोर लड़का निकल भागने और अपना अलग घर बसाने की बात सोचता है। ठीक इसी दृष्टिकोण से उपरोक्त देशों का विलगाव हुआ है।

इससे आगे के क्षेत्र में कुछ शताब्दियों से पहले की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि भारत का विस्तार पूरे एशिया महाद्वीप में था। बृहत्तर भारत की भौगोलिक सीमाएँ इस विशाल भूखंड में समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों तक सुविकसित होती चली गई थीं। पूर्व एशिया में इंडोनेशिया, इंडोचाइना, मलेशिया के अंदर आने वाले समस्त देश और द्वीप भारत के अंग थे। मध्य एशिया में चीन, तुर्किस्तान, रूस,

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञेय अनुदान / ३८**



जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि पर पूरी तरह भारत का वर्चस्व था। पश्चिम एशिया में ईरान, ईराक, अरब, अफगानिस्तान जैसे वे देश, जो इन दिनों इस्लाम धर्म के केंद्र हैं, उन दिनों भारत की सांस्कृतिक सीमा के अंतर्गत ही आते थे। उन दिनों की भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण किया जाए तो पूर्व एशिया, मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के तीनों क्षेत्रों को मिलाकर प्रायः पूरा एशिया बृहत्तर भारत की परिधि में आता था। निरंतर का सघन संपर्क और प्रखर आदान-प्रदान संबंध सूत्रों को पूरी तरह सुदृढ़ बनाए हुए था।

महाभारत युद्ध में एकत्रित राजाओं और उनकी सेनाओं का वर्णन पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रायः समस्त एशिया के गणतंत्र उस विश्व युद्ध में सम्मिलित थे। इसका तात्पर्य यही निकलता है कि वे सभी गणतंत्र विशाल भारत की, महाभारत की सीमा में आते थे, जो इस महायुद्ध में सम्मिलित हुए थे, अन्यथा किसी दूसरे की आग में कूदने की क्या आवश्यकता पड़ती? महाभारत वस्तुतः एक गृह युद्ध ही था, जिसमें बृहत्तर भारत के सभी क्षेत्र, प्रदेशों को सम्मिलित होना पड़ा था। यों यह प्रभाव क्षेत्र योरोप, अफ्रीका आदि समीपवर्ती महाद्वीपों को भी छूता था और उसकी कुछ किरण अमेरिका, आस्ट्रेलिया खंडों तक पहुँचती थीं, किंतु सघन संबंधों की कसौटी को ही प्रधानता दी जाए तो भी समस्त एशिया तो बृहत्तर भारत के अंतर्गत आता ही है।

यह नहीं समझना चाहिए कि विश्व निर्माण अभियान पर निकले हुए भारतीय केवल धर्म प्रचार ही करते थे। यों, यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, पर लक्ष्य इतने तक ही सीमित न था। व्यवसाय, शिक्षा, चिकित्सा, सुशासन आदि अनेक उपलब्धियों से सुदूर देशों को लाभान्वित करना हमारे पूर्वजों का प्रयोजन था। अस्तु, न केवल धर्मप्रचारक, वरन सभी विशेषताओं के विशेषज्ञ अपनी-अपनी क्षमता का अनुदान विश्व नागरिकों को प्रदान करने के लिए उत्साह और साहसपूर्वक अपनी यात्रा आरंभ करते थे। उन दिनों नौकायान और दुर्गम पैदल थल-यात्रा ही केवल मात्र साधन इन यात्राओं के थे। घोड़े,

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ३९**



ऊँट, हाथी आदि भी कभी-कभी काम आते थे, तो भी पशुओं द्वारा खींचे जाने वाले वाहनों के उपयुक्त सड़कें प्रायः नहीं थीं। इन परिस्थितियों में अधिक सरल उपाय जलयात्रा का ही रह जाता था। विश्व परिवार के साथ संपर्क बनाने के लिए प्राचीन काल में भारत ने अपने जलयान अधिकाधिक सुविकसित किए थे। जल-मार्गों की जानकारी, नौकायान विज्ञान को सुविकसित करने के लिए घोर प्रयत्न किया था। भारतीय समुद्र तटों पर अच्छे बंदरगाह थे। अन्य देशों में भी उन्हें सुविधाजनक बंदरगाह बनाने पड़े।

केरल, चोल और पाण्ड्य नामक दक्षिण भारत के राज्यों का व्यापार ग्रीस, रोम और चीन के साथ होता था। सीरिया के इतिहास से विदित होता है कि उन लोगों ने युद्ध में भारतीय हाथी प्रयुक्त किए थे और अप्रत्याशित सफलताएँ पाई थीं। मिश्र के पिशमिडों में दिवंगत राजाओं के मृत शरीर उपलब्ध हुए, वे भारत के बने कपड़ों में लिपटे पाए गए। चंद्रगुप्त मौर्य की जलसेना बहुत विकसित और विस्तृत थी। इसका विवरण चाणक्य कृत अर्थशास्त्र में दिया गया है। प्रसिद्ध यात्री 'मेगस्थनीज' ने भी अपने यात्रा-विवरण में भारत की समुन्नत जलशक्ति का उल्लेख किया है।

सुदूर पूर्व के देश किसी समय भारत के लिए घर-आँगन जैसे बन गए थे। बौद्ध ग्रंथ 'महा जातक' में भारतीयों की बर्मा और अनाम यात्राओं के वर्णन हैं। इतिहासकार पैरिप्लस के अनुसार मछलीपट्टन बंदरगाह से व्यापारी जलयान पूर्वी द्वीप समूहों के लिए बहुधा आया-जाया करते थे। 'सुसोदिजातक' के अनुसार भड़ौच (गुजरात) से भी जलयात्रियों के पूर्वी द्वीप समूहों के लिए जाने का वर्णन है। जावा के प्रचलित इतिहास में यह बताया गया है कि सौराष्ट्र और कलिंग के लोग वहाँ जाकर बसे थे और उस देश को समुन्नत बनाया था।

इतिहासज्ञ पोकुरु ने अपनी पुस्तक 'इंडियन इन ग्रीस' नामक पुस्तक में लिखा है कि ईसा से ४०० वर्ष पूर्व भारतीय दार्शनिक उस देश में धर्म शिक्षा देने पहुँचे थे। मगध और सिंधु तट निवासी क्षत्रियों ने यूनान में व्यवस्थित राजसत्ता की स्थापना की थी।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४०**

गार्डन चाइल्ड की 'न्यू लाइट ऑन दि मोस्ट ऐंशिऐंट ईस्ट' के अनुसार यूनानी सभ्यता का मूल स्रोत भारतीय सभ्यता है। सर जॉन मार्शल लियोनार्ड बूली ने जो खोजें की हैं, उनसे प्राचीन यूनान में विवाह संस्कार अग्नि की परिक्रमा करते हुए होते थे तथा मुरदे जलाए जाते थे।

प्राचीन काल में भारत का विस्तार कितना व्यापक था और उसके प्रभाव क्षेत्र में किस सीमा तक प्रायः समस्त एशिया आ चुका था, उसकी अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें निम्न पुस्तकें पढ़नी चाहिए—(१) फर्नीड्रनाथ कृत—इंडियन टीचर्स ऑफ चाइना। (२) राहुल सांकृत्यायन कृत—जापान। (३) स्टेन कृत—ऐंशिऐंट खोतान। (४) बी० ए० स्मिथ कृत—अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया। (५) रामचंद्र वर्मा कृत—अरब और भारत के संबंध। (६) अनेस्नी कृत—हिस्ट्री ऑफ जावानीज बुद्धिज्म। (७) बुद्धिस्ट रिकार्ड ऑफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड (८) वाडेल्ल कृत—लामाइज्म। (९) स्टेन कृत—इनर मोस्ट एशिया (१०) जनार्दन झा कृत—बौद्धकालीन भारत (११) जगमोहन वर्मा कृत—फाहियान।

कोलकाता की 'दि ग्रेटर इंडिया सोसाइटी' ने अपनी 'प्रोग्रेस ऑफ ग्रेटर इंडियन रिसर्च' योजना के अंतर्गत सन १९१७ से १९४२ की अवधि में अफगानिस्तान, सेंट्रल एशिया, तिब्बत, मंगोलिया, मंचुरिया, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, चम्बा, जावा, बाली, बोर्नियो, सिलेवीस, सुमात्रा, मलाया, सीलोन आदि पर श्री यू० एन० घोषाल के द्वारा किए गये शोध कार्य को प्रकाशित किया था।

इस प्रकार का प्रामाणिक ऐतिहासिक साहित्य पढ़ने से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत किसी भौगोलिक सीमा की परिधि में अवरुद्ध नहीं था, वरन उसका कार्यक्षेत्र समस्त विश्व था। वे अपनी ही तरह संसार को सुखी और समुन्नत बनाने के महान मिशन में निरत जीवन व्यतीत करते थे।



**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४१**

# विश्व के कोने-कोने में फैली हुई भारतीय सभ्यता

पुराण साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विश्वामित्र के पतित पुत्रों को देश निकाला मिला तो वे आस्ट्रेलिया चले गए और उस देश को नए सिरे से बसाया। इस प्रकार तृणबिंदु राजकुमार के भी उस देश में जा बसने का विवरण मिलता है। ऋषि पुलस्त्य भी उस देश में धर्म-स्थापना के लिए गए थे। आस्ट्रेलिया की आदिम जातियाँ अभी तक जो भाषा बोलती हैं, उनमें भारतीय कोल, भील, संथाल एवं द्रविण क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषाओं के शब्दों का बाहुल्य है। इन लोगों में भारत जैसी वर्ण व्यवस्था एवं जाति-पाँति की ऊँच-नीच की मान्यता अभी भी प्रचलित है। शब्द बेधी बाण का एक प्रकार इन आदिवासियों का 'बूमरैंग' अस्त्र है, जो निशाना वेधकर वापस लौट आता है। पुनर्जन्म के संबंध में इन लोगों की भारत जैसी ही मान्यता है।

अमेरिका को भारतीय इतिहास पुराणों में पाताल लोक कहा गया है और वहाँ नागराज के शासन की चर्चा की गई है। अभी भी उस देश में प्राप्त प्रतिमाओं और अवशेषों में नाग देवताओं की आकृतियाँ मिलती हैं। यह 'नाग' भारत की एक जाति थी। नागालैंड इन्हीं लोगों का क्षेत्र था। यह जाति आसाम से लेकर मध्य भारत तक फैली हुई थी। नागपुर आदि नगर आजकल जहाँ हैं, वहाँ नागवंशी लोग ही रहते थे। अभी भी नाग गोत्र वालों की संख्या अन्य गोत्र वालों जितनी ही है। यही लोग आगे बढ़कर अमेरिका पहुँचे थे। भारत की नाग पूजा प्रख्यात है। अनंत, वासुकि, वासुदेव के नाम से सर्प पूजा का देवाराधन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागपंचमी

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४२**

तो नाग पूजा का विशेष पूजन पर्व है। संभवतः सर्प पूजक होने के कारण उन्हें भी नाग कहा जाने लगा है। उस वर्ग के अमेरिका पहुँचने के प्रमाणों की कमी नहीं है।

रावण के भाई अहिरावण का पाताल लोक में निवास वाल्मीकि रामायण से सिद्ध है। दोनों भाइयों में समय-समय पर कई प्रकार के आदान-प्रदान होते रहते थे। अन्य असुर भी परिस्थितिवश पाताल लोक गए और बसे हैं। दुर्गा सप्तशती में एक श्लोक है—

दैत्याश्च देवा निहते शुम्भे देवीरपौ युधिः।

निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः॥

‘देवी ने जब शंभु-निशंभु को मार डाला तो बचे-खुचे असुर भागकर पाताल लोक चले गये।’

‘अमर कोष’ में पाताल लोक के कई नाम गिनाए गए हैं।

अधो, भुवन, पाताल, बलिसदः रामादलम्।

नाग लोकोऽथ कुहरं सुषिरं विवरं विलम्॥

‘पाताल, रसातल, बलिगृह, नागलोक, कुहुर, विवर आदि शब्द एक ही अमेरिका देश के बोधक हैं।’

दक्षिण अमेरिका के बोलिविया नगर के समीप खुदाई करके पुरातत्व विभाग ने जो अवशेष प्राप्त किए हैं उनसे उस क्षेत्र पर सूर्यवंशी इन्का राजाओं के शासन का प्रमाण मिलता है। कुछ ऐसे भी आधार हैं जो प्राचीन काल में इस देश पर राजा बलि का राज्य होने की साक्षी देते हैं।

मैक्सिको (अमेरिका) के आदिवासियों की एक जाति ‘अपाच्य’ हैं। अपाच्यों के बारे में ‘एतरेय ब्राह्मण’ के रुद्र महा अभिषेक प्रकरण में वर्णन आता है—

तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि येऽनीच्यानां राजानो ये पाच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते स्वरा लित्ये नानाभिषिक्ता नाचक्षते।

इस वर्णन में पश्चिम दिशा के सुदूर देश में ‘अपाच्य’ एवं ‘नीच्य’ लोगों के निवास की चर्चा है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४३

महाभारत में उद्दालक ऋषि के पाताल जाने का वर्णन है। महाभारत में पाताल नरेश अपनी सेना समेत लड़ने आए थे। अर्जुन की पत्नी 'उलूपी' अमेरिका से ही विवाह होकर भारत आई थी। सम्राट चंद्रगुप्त को यूनान के सिल्युकश की बेटी विवाही थी। मेवाड़ के राजा गोह की पत्नी ईरान के राजा नोशेरवां की पौत्री थी।

भारत से 'मग' नामक एक पराक्रमी जाति मंगोलिया में जाकर बसी। उसने अपने वंश के नाम पर उस देश का नामकरण 'मंगोलिया' किया। इन लोगों का दूसरा नाम शक था और उस देश को शाकद्वीप भी कहा जाता था। मग और शक एक ही वंश के दो नाम थे। 'साम्ब पुराण' स्वाध्याय २५ में इन लोगों के संबंध में निम्न विवरण प्राप्त होता है—

लवणोदात्परं पारे क्षीरौदेव समावृतः ।

जम्बू द्वीपात्परं तस्याच्छाक द्वीप इति श्रुतः ॥

तत्र पुण्य जनपदाश्चातुर्वर्ण्य समाश्रिताः ।

मगाश्च मामगाश्चैव मानसा म दगा स्तथा ॥

मगाब्राह्मण भूयिष्ठा मामगा क्षत्रिया स्तथा ।

वैश्यास्तु मानसा ज्ञेया शूद्रा स्तेषान्तु मन्दगाः ॥

विवस्वतं पूजयन्तो धूप गन्धादिभिः शुभैः ।

अष्टादशकुलानीह मगानां वेद वादिनाम् ॥

यास्यन्ति च त्वया साद्ध यत्र सन्निहितो रविः ।

'लवण सागर से आगे क्षीर सागर से घिरा शाक द्वीप है। यह जम्बू द्वीप से बहुत दूर है। उस राज्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्ण बसते हैं। वे सूर्य के उपासक हैं। उनके अठारह कुल वेदपाठी हैं। इन्हीं को शक भी कहते हैं।

महाभारत से भी इसकी पुष्टि होती है। वर्णन है—

शाक द्वीपं च वक्ष्यामि यथावत् इह पार्थिवः ।

तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोक सभ्यताः ॥

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४४

**मंगाश्च मशकाश्चैव मन्दगा मानसास्तथा ।**

**मंगा ब्राह्मण भूयिष्ठः स्वकर्म निरता नृपः ॥**

इस विवरण से शाक द्वीप में मंग लोगों द्वारा निवास तथा शासन करने की स्पष्ट चर्चा है।

अफ्रीका में पाए जाने वाले जुलू लोग 'झल्ल' वंश के क्षत्रियों की संतानें हैं।

प्रो. टेलर ने अपने ग्रंथ "ओरिजन ऑफ आर्यन्स" ग्रंथ में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं जिनसे वर्तमान योरोपियन नसल का-आर्य रक्त के साथ मंगोल जाति वाली महिलाओं का संकरण होने से उद्भव माना गया है। "ऋग्वैदिक इण्डिया" ग्रंथ में भी इसी तथ्य की पुष्टि करने वाले प्रमाणों की भरमार है। 'हार्मस्वर्थ हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' ग्रंथ में भी वर्तमान योरोपियन नसल का विश्लेषण करते हुए यही निष्कर्ष निकाला है कि इस क्षेत्र में बसने वाली आदिम जातियों के साथ एशिया से आए आर्य लोगों का संकरण हुआ और वर्तमान योरोपियन जातियों की वंश परंपरा विकसित हुई।

"मेन्युअल ऑफ हिस्ट्री" ग्रंथ से यह मण्णा नगर रोडेशिया में सिद्ध होता है। वहाँ सोना भी निकलता था और हाथियों का भी बाहुल्य था। एतरेय ब्राह्मण में वर्णित मण्णाम स्थान यह मण्णा ही माना जा सकता है। उस प्रदेश के बिखरे पड़े अवशेष जिस प्राचीन सभ्यता के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-यह सम्राट 'भरत' के काल के ही हो सकते हैं।

**रथक्रान्ते नराः कृष्णाः प्रायशो विकृतानना ।**

**आम मांस भुजः सर्व शूराः कुचित मूर्द्धजाः ॥**

"उस अफ्रीकी क्षेत्र के लोग काले रंग के चौड़े होठ, नाक वाले कच्चा मांस खाने वाले, शूरवीर और घुँघराले बालों वाले होते हैं।"

अफ्रीका के रोडेशिया देश में ऐसे खंडहर एवं पुरातत्त्व प्रमाण पाए जाते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि हजारों वर्ष पहले यहाँ कोई सभ्य जाति आ गई थी। योरोपियनों और अरबों के पहुँचने पर वहाँ

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४५**

विकट वन्य प्रदेश ही फैला पड़ा था और उनमें आदिम जातियाँ ही रहती थीं। यह खंडहर जिस काल की साक्षी देते हैं उसे भारतीयों के अफ्रीका प्रवास का काल कह सकते हैं।

एतरेय ब्राह्मण के ३९वें अध्याय में एक ऋचा आती है—

हिरण्येन परिवृतान्कृष्णान् शुक्ल दत्तो मृगान्।

मृष्णारे भरतोऽददाच्छन्तं वर्द्धानिन सप्त च॥

“सम्राट भरत ने मष्णार देस में स्वर्ण आभूषण से सजे हुए सफेद दाँत वाले एक सौ सात हाथियों के झुण्ड का दान किया।”

सरस्वत्या सया कण्वो मिश्रदेश मुपाययौ।

म्लेच्छा संस्कृत्य चाभाष्यत्तदा दश सहस्रकान्॥

सपत्नी कांश्च तान् म्लेच्छान् शूद्र वर्गाय चाकरोत्।

दस सहस्रास्तरा तेषां मध्ये वैश्या वभूविरे॥

तेषां चकार राजानं राज पुत्रं पुरन्दरम्।

— भविष्य पुराण

‘कण्व’ ऋषि मिश्र देश गए। वहाँ उन्होंने दस हजार म्लेच्छों को सुसंस्कृत बनाया। इनमें कुछ को वैश्य, कुछ को शूद्र और कुछ को क्षत्रिय की संज्ञा दी गई।

उमेश चंद्र विद्यारत्न कृत “मानवेर आदि जन्मभूमि” नामक बंगला ग्रंथ में ऐसे अनेक आधार प्रस्तुत किए हैं; जिनमें चीन, जापान, बर्मा, स्याम, आदि देशों में बसने वाली मंगोल जाति का उद्भव आर्य जाति से होना सिद्ध किया गया है। जलवायु और भूमि की विशेषता तथा उस क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों के संसर्ग से गोल चेहरे, चपटी नाक, पीला रंग, तिरछी आँखों की आकृति जैसा अंतर आ गया। मंगोलियन वस्तुतः कोई स्वतंत्र जाति नहीं वरन आर्य रक्त का ही संकरीकरण तथा जलवायु के आधार पर उत्पन्न हुआ यत्किंचित परिवर्तन है।

तथैव मलय द्वीप मेव मेव सुसंवृतम्।

नित्य प्रमुदिता स्फीता लंका नाम महापुरी।

— ब्रह्मांड पुराण

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४६

“मलय देश में सुखी समुन्नत और सुविस्तृत लंका नामक महानगरी लंका थी।”

यत्न वन्तो यव द्वीपः सप्त राज्योप शोभते ।

— वाल्मीकि रामायण

“यव द्वीप सात राज्यों में विभक्त सुशोभित था।”

अंगद्वीप यव द्वीपं मलय द्वीप एव च ।

शंख द्वीप कुश द्वीपं वराह द्वीप मेव च ॥

एवं षडेते कतिपय अनुद्वीपा समन्ततः ।

भारतं द्वीप देशो वै दक्षिणा बहु विस्तरः ॥

— वायु पुराण

“अंगद्वीप, यवद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप, वाराहद्वीप—यह सब भारत के ही अनुद्वीप (उपनिवेश) हैं। वे बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं।”

“राज निघंटु” में वैश्य-वर्ण के देश-देशांतरों में बसे हुए वर्गों के कई नाम गिनाए गए हैं।

वैशस्तु व्यवहर्ता वार्तिकः पणिको वणिक ।

“व्यवहर्ता, (बोहरे) विट्, वार्तिक, पणिक और वणिक—यह वैश्य वर्ग ही है।”

इस क्षेत्र में चलने वाली स्थानीय भाषाओं में अभी भी संस्कृत शब्दों की भरमार है। इतिहास वेत्ता वेरोडल कीथ के अनुसार ‘मेसोपोटामिया’ के एक राजा दशरथ थे। दूसरा एक राजा हरि भी हुआ है। इस क्षेत्र पर शासन करने वाला वंश ‘खत्री’ था जो क्षत्री का अपभ्रंश है। भारत के पंजाब प्रांत में क्षत्री को ‘खत्री’ अभी भी कहते हैं। खत्री पंजाब में बसी एक प्रसिद्ध जाति है।

‘एशिया माइनर’ एवं ‘नियर ईस्ट’ के नाम से जाने, जाने वाले क्षेत्र में फारस, मेडिटेरेनियन सागर, अरब, मेसोपोटामिया क्षेत्र आते हैं। सीरिया से पूर्व को लगा हुआ ‘फिनीसिया’ है। बेविलोनिया, उसके दक्षिण में ही चाल्डिया भी यहीं है। इस समूचे क्षेत्र में किसी

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४७



समय भारतीय संस्कृति का बोलवाला था। यहाँ पणि, पण्य जाति निवास करती थी जो भारत के पाण्ड्य वर्गी वैश्यों की ही एक उपजाति थी। ये लोग व्यवसाय का उद्देश्य लेकर वहाँ गए थे। चोल वंश के लोग भी उस क्षेत्र में बसे थे और नौकायान व्यवसाय में प्रवीण थे। वह चोल वंश दक्षिण भारत से वहाँ जाकर बसा था। 'हिस्टोरियन हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' ग्रंथ में बेविलोनिया के प्राचीन निवासियों को भारतीय वंश का ही माना गया है। वे लोग भारत के पूजे जाने वाले देवताओं की ही आराधना करते थे।

विद्वान पीकाक द्वारा लिखित 'इंडिया इन ग्रीस' ग्रंथ में जो प्रमाण और आधार प्रस्तुत किए गए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि मिश्र के प्राचीन निवासी अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते थे और अपने को आदि मनु की संतान मानते थे। सूर्य देवता उनका उपास्य था।

कर्नल अल्काट ने 'थियोसोफिस्ट' में यह प्रामाणित किया था कि अब से कोई आठ हजार वर्ष पहले भारतवासी मिश्र पहुँचे और उन्होंने उस क्षेत्र को एक उपनिवेश की तरह बसाया।

इतिहास वेत्ताओं का कथन है कि ईरान, सीरिया आदि मध्य पश्चिमी एशिया में बसे हुए आर्य लोग समीपवर्ती छोटे से समुद्र को पार करके अफ्रीका महाद्वीप में पहुँचे और उन्होंने वहाँ बसने तथा सभ्यता विस्तार का उपक्रम चलाया।

रामानुज संप्रदाय के आदि संस्थापक 'यवनाचार्य' थे, वे अरब से भारत आए थे। उन दिनों भारतीय विद्वान ब्राह्मण अरब क्षेत्र में भी निवास करते थे। विद्वान विलफोर्ड का इस संबंध में एक प्रामाणिक लेख 'एशियाटिक रिसर्च' के भाग १० में छपा है। उन्होंने सिद्ध किया है कि यवनाचार्य का जन्म अरब में ब्राह्मण वंश में हुआ। वे आलेक्जेंड्रिया विश्व विद्यालय में पढ़े थे और धर्म प्रचार के लिए भारत आए थे।

महाराज धृतराष्ट्र की पत्नी 'गांधारी' गांधार देश की राजकुमारी थी। आज का कंधार ही प्राचीन काल का गांधार है। पंचतंत्र में

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४८**

कौलिक की प्रेयसी चीना नामक लड़की का वर्णन है। यह चीन देश की थी।

‘महाभारत’ मीमांसा ग्रंथ के लेखक गय बहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य ने अनेकों प्रमाण प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि कंधार, गजनी, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, कलात आदि भारत की उत्तरी सीमा से लगे हुए क्षेत्र को भारतीयों ने ही बसाया और समुन्नत बनाया था।

स्पष्ट है कि धर्म प्रचार के लिए, शासन सत्ता की स्थापना, शिक्षा, कला-कौशल प्रशिक्षण, चिकित्सा विज्ञान आदि में जानकारी देने के लिए सुयोग्य मनीषी बड़ी संख्या में समस्त संसार में जाया करते थे। यह जहाँ अपनी अधिक आवश्यकता समझते थे, वहाँ रुक जाते थे। भारतीय सभ्यता का विस्तार इसी आधार पर फैला है।

एक कारण यह भी था कि किन्हीं अपराधों के कारण देश निकाले का दंड पाए हुए लोग इस देश से चले गए और वहाँ जाकर बस गए। इन लोगों ने भी उन देशों के पिछड़ेपन को दूर करने के लिए बहुत कुछ किया।

सेवा-भाव से गए हुए अथवा बहिष्कृत, क्षुब्ध, रुष्ट होकर गए हुए लोग विदेशों में बस गए। उनकी पीढ़ियाँ क्रमशः वहीं के लोगों में घुलती गईं। जब तक भारत के साथ उनका संपर्क रहा, आते-जाते रहे, अथवा इस देश के धर्मप्रचारक वहाँ पहुँचकर उपयुक्त मार्गदर्शन करते रहे तब तक उनकी संस्कृति अक्षुण्ण बनी रही, पर जब से संबंध सूत्र ढीले हो गए और स्थानीय लोगों में ही वे अधिक घुलते गए तो उनकी संस्कृति भी वहाँ जैसी ही बन गई। इन लोगों पर भारत के संस्कार कम रह गए और उसी देश की परंपराओं में वे ढल गए। ऐसे लोगों की संसार भर में बहुत बड़ी संख्या रही है।

इतिहासकार प्रो० हीरन ने चीन निवासियों के अति प्राचीन उद्भव स्रोतों का वर्णन करते हुए लिखा है कि चीन को भारत का ही विकास-विस्तार कहा जा सकता है।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ४९**

स्कंध पुराण में राजवंशों का वर्णन करते हुए “तुर्वसो भननः जनाः” वाक्य आता है। यवनों की उत्पत्ति तुर्वस से हुई, जो राजा ययाति का पुत्र था। पिता से अनबन होने के कारण वह देश छोड़कर अन्यत्र चला गया। इसी प्रकार शक जाति की उत्पत्ति के बारे में कहा गया है—“नरिष्यन्तः शकाः पुत्राः।” शक राजकुमार से शक जाति उत्पन्न हुई। यह शक राजा इक्ष्वाकु का पौत्र था। मिश्र, ग्रीक, चीन आदि देशों के निवासी प्राचीन काल में यवन एवं शक नाम से संबोधित किए जाते थे।

शनकैस्तु क्रियालोपादियः क्षत्रिय जातः।  
वृषलत्वं गया लोके ब्राह्मण दर्शनेन च।  
पोण्ड्र काश्चौड्र द्रविणाः कम्बोजा यवनाः शकाः।  
पारदा पल्हवाश्चीनां किराता दरदाः खशाः।  
मुख बाहु रुपज्जानां यो लोके जातयो वहिः।  
म्लेच्छवाचश्चार्य वाचः सर्वे ते दस्यूवां स्मृताः।

— मनुस्मृति

धीरे-धीरे क्रिया लोप हो जाने से, ब्राह्मणों का संपर्क टूट जाने से संसार में फैली हुई क्षत्रिय जातियाँ वृषल और दस्यु बन गईं। पौंड्र, ओड्र, द्रविड़, कंबोज, यवन, शक, दरद, खस आदि जातियाँ इसी प्रकार बनीं। वे आर्य भाषा भूलकर म्लेच्छ भाषा तथा परंपरा अपना बैठीं।

प्रो० मेक्समूलर ने भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया है कि पारसी लोग फारस में जाकर बसने से पूर्व भारत के ही निवासी थे। ईरान में बसने वाले भारत से ही वहाँ पहुँचे थे। ईरान शब्द को भाषावेत्ताओं ने आर्यान् शब्द का अपभ्रंश माना है।

अरब देशों में पाई जाने वाली शक जाति व्रतहीन ब्राह्मणों से उत्पन्न है। मनुस्मृति के अनुसार पतित बहिष्कृत ब्राह्मणों की कई जातियों में से एक शेख भी कही जाती थी।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५०

व्रात्यस्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्ज कण्टकः ।

आवन्त्य वाटधानों च पुष्पधःशेख एव च ॥

ताननु व्याजहारं तान्वः प्रजाभक्षीष्टेति । ते एतेऽन्धाः पुण्ड्राः  
शवराः पुलिन्दाः मुतिवा ईत्युदंत्या वह वो भवन्ति ।

— एतरेय ब्राह्मण ७/४/१८

“अनुचित आचरण के कारण उन्हें देश निकाला दिया गया। वे अन्यत्र चले गये और उनसे आंध्र, पुण्ड्र, शवर, पुलिंद आदि जातियाँ उत्पन्न हुई।”

मनुस्मृति में पतित क्षत्रियों से उत्पन्न जातियों का उल्लेख करते हुए उन्हें “किराताः यवनाः शकाः” के वर्गों में गिनाया गया है।

शकः यवन काम्बोजाः पारदाः पल्लवा स्तथा ।

कौलि सर्पाः समहिषा दावाश्चोलाः सकेरलाः ।

सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृतः ।

— महाभारत

“शक, यवन, कंबोज, पारद, पल्लव, कौल, नाग, दर्व, चोल आदि जातियाँ बहिष्कृत क्षत्रियों से ही बन गईं।”

कहीं-कहीं तो यह विदेश गए भारतीय बहुत अच्छी स्थिति में बने रहे, किंतु कहीं परिस्थितियों ने बहुत ही गई-गुजरी स्थिति में डाल दिया। वे वनवासियों की स्थिति में जंगलों में जाकर रहने लगे। कहीं-कहीं खानाबदोशों के रूप में उन्हें भ्रमणशील जीवन अपनाकर अपना निर्वाह करना पड़ा।

ई० मासंडन नौरिस, मैनिंग, जान हट्ट, रोस्ट, क्लैडविल आदि विश्व प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आस्ट्रेलिया की अदिम जातियों का मूल भारत है। भारतीय लोग ही चिर प्रीचान काल में जाकर वहाँ बसे थे और सुविधा-साधनों के अभाव में पिछड़ते हुए वर्तमान आदिवासी स्थिति में जा पहुँचे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५१

अब से कोई एक हजार वर्ष पूर्व भारत के कुछ धर्मप्रचारक अपने परिवारों सहित विश्व के कोने-कोने में धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए, धर्म-सृजन के लिए निकले थे। उन्होंने जन्मभूमि का मोह छोड़ा और समस्त विश्व को अपना घर और समस्त मानव को अपना परिवार माना। उन्होंने जहाँ आवश्यकता और अनुकूलता देखी वहीं बसते और बढ़ते चले गए। इन भ्रमणशील वर्गों की एक जाति ही बन गई, जिसे अब “रोमिनी” के नाम से पहचाना और पुकारा जाता है। इसका अस्तित्व अभी भी ईरान, तुर्की, मिश्र, अमेरिका, सोवियत संघ तथा योरोप के कितने ही देशों में पाया जाता है।

ठंडे शीत देशों में जहाँ आमतौर से लोग गोरे रंग के होते हैं, वहाँ रोमनी वंश के लोग अभी भी भारतीय नख-शिख एवं आकृति-प्रकृति के होते हैं। उनकी अपनी विशेषताएँ हैं जो स्थानीय निवासियों से सर्वथा भिन्न स्तर की दिखाई देती हैं। इनका रंग भी गोरों की तुलना में काफी काला मटमैला होता है। उन्हें भारतीय मूल का मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होती।

इतिहास पुराण के पृष्ठ उलटने से हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि किसी समय भारतीय समस्त विश्व से अपना संपर्क बनाए हुए थे और विभिन्न क्रिया-कलापों से संसार के बहुत बड़े क्षेत्र की सेवा-सहायता कर रहे थे।

जड़ सूख जाने से पत्तों का सूख जाना भी स्वाभाविक है। भारत कमजोर हुआ तो यहाँ से विदेशों में गए लोग भी संबंध सूत्र ढीला हो जाने अथवा टूट जाने से वहीं के निवासी बन गए। स्थानीय धर्म परंपरा एवं संस्कृति अपनाकर वहीं के हो गए। आज भी हमें दूर देशों में यही बिराने बने हुए अपने बहुत बड़ी संख्या में फैले हुए दीख सकते हैं।



# विश्व निर्माण की ओर से आँखें न मूँद लें

समस्त भूमंडल को किसी समय हम किस प्रकार अपना घर मानकर उसे सँजोने-सँभालने और सर्वांग सुंदर बनाने में लगे हुए थे, इस गौरव गरिमा को जानने के साथ ही हमें अपनी पुण्य परंपरा का बोध होना चाहिए। वर्तमान दुरवस्था पर ग्लानि अनुभव करनी चाहिए और आत्मगौरव की ऐसी किरणें अंतःकरण में जगानी चाहिए जिनके आधार पर पुनः भूतकालीन स्थिति में लौट चलने की, पूर्वजों की महान धरोहर सँभालने की बेचैनी अनुभव होने लगे। इतिहास का प्रमुख उद्देश्य भविष्य निर्माण की प्रेरणा देना ही होता है। अतीत के गौरव को यदि भावनापूर्वक पढ़ा जाए तो आज हमारे भीतर वैसी ही स्फुरणा उत्पन्न होनी चाहिए।

एशिया को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) मध्य एशिया—जिसमें भारत की सीमा से लगे उत्तर दिशा में चीन, रूस आते हैं। (२) पश्चिम एशिया—जिसमें अरब देश, ईराक, ईरान आदि आते हैं। (३) पूर्वी एशिया—जिसमें इण्डोनेशिया, इण्डोचाइना, मलेशिया आदि आते हैं। (४) मूल भारत—जो आज तो छोटा रह गया है, पर कुछ दिन पूर्व उसका विस्तार था। तिब्बत, नेपाल, ईराक, बर्मा, लंका, पाकिस्तान, बंगला देश यह सब इसी शताब्दी तक भारत के ही अविच्छिन्न अंग थे। अब दुर्भाग्य ने उन्हें हमसे अलग कर दिया तो भी कल तक वे अपने ही थे इसे भुलाया नहीं जा सकता है। इन क्षेत्रों में फैला जन समूह

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५३**

भारतीय लोगों से ही बना है, उनकी नसल और संस्कृति में यत्किंचित ही अंतर आया है। इनकी अधिकांश जनता हिंदू अथवा बौद्ध धर्म की अनुगामिनी है। यों इस्लाम धर्म भी इन विलग हुए क्षेत्रों में फैला है और ईसाई मतानुयायी भी बढ़े हैं, फिर भी नसल, रक्त और पूर्वजों का इतिहास इतना महत्त्वहीन नहीं होता कि उसे सहज ही उपेक्षित कर दिया जाए। इस गई-गुजरी स्थिति में भी मूल भारत के क्षेत्र में भारतीयता का गहरा पुट अभी भी विद्यमान है।

संसार जिन महाद्वीपों में विभक्त है उनमें अमेरिका, योरोप, अफ्रीका, और एशिया मुख्य हैं। आस्ट्रेलिया को भी यों महाद्वीप ही माना जाता है और न्यूजीलैंड को भी कोई-कोई इसी वर्ग में गिन लेते हैं।

विश्व के इस समस्त भूभाग में भारतीय धर्म एवं संस्कृति का वैभव विस्तार प्रमाण सिद्ध है। इन सभी महाद्वीपों में किसी समय भारतवासी पहुँचे हैं और उन क्षेत्रों के विकास में बहुमूल्य योगदान देते रहे हैं। यही कारण है कि इन देशों के पुरुषार्थी एवं परमार्थपरायण महामानवों को विश्व नागरिकों द्वारा जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक, देवमानव आदि नामों से संबोधित किया जाता रहा है।

अगले पृष्ठों में यह पढ़ा जा सकेगा कि अन्य समस्त द्वीपों में और अपने एशिया के पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी भागों में कितनी गहराई तक भारतीयता ओत-प्रोत रही है। इस व्यापक क्षेत्र को भारत का कितना बड़ा अनुदान मिलता रहा है।

यों इतिहास के पृष्ठों पर धार्मिक विस्तार का ही अधिक उल्लेख मिलता है, पर इसका अर्थ यह न समझा जाए कि अर्थ व्यवस्था, शासन स्थापना, समाज संगठन, कला, उद्योग, शिल्प आदि में वह योगदान स्वल्प रहा है। वस्तुतः प्राचीनकाल में राजवंशों को तथा धर्मधारणाओं को ही अधिक महत्त्व दिया जाता

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५४**

था और इतिहासकार उसी प्रकार की प्रवृत्तियों को पुस्तकों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, भित्तिचित्रों में अंकित करते थे। वस्तुतः भारत का योगदान सर्वतोमुखी रहा है।

इस गई-गुजरी स्थिति में भी विश्व के लिए हम बहुत कुछ कर सकते हैं। धन, विज्ञान, कला, शिल्प, अस्त्र आदि के क्षेत्रों में समुन्नत कहलाने वाले देश कितने ही आगे बढ़ गए हों, पर वे आध्यात्मवादी, उदात्त दृष्टिकोण में अभी भी कहीं पीछे हैं और यह दार्शनिक कमी उन्हें इतनी महँगी पड़ रही है कि भौतिक प्रगति का सारा आनंद ही चला गया। सच तो यह है कि एकांगी प्रगति इनके गले में नाग फाँस बनकर रह रही है और अपनी कराल दाढ़ों में उन्हें ग्रसित करती चली जा रही है।

भारत का तत्त्वज्ञान वह अमृत है जिसे प्राप्त करके अभावग्रस्त परिस्थितियों में भी अजस्र आनंद अनुभव किया जा सकता है। फिर जब समृद्धि भी साथ हो तो कहना ही क्या? समस्त विश्व यह आशा लगाए बैठा है कि आज नहीं तो कल भारत से सूर्योदय होगा और उसकी प्रकाश किरणें सर्वग्रासी अंधकार को दूर करेंगी। समय आ गया है कि हम आगे बढ़ें। अपने को सुधारें, अपना घर सुधारें, किंतु इस सुधार प्रक्रिया को अपने छोटे दायरे तक ही सीमाबद्ध न रखें। उसका अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में प्रसार करें और मानव जाति की, युग की महती आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए वह सब कुछ कर गुजरें जो इन परिस्थितियों में संभव है। आत्मनिर्माण के अतिरिक्त हमारे विकास कार्यक्रमों में विश्व निर्माण का लक्ष्य जुड़ा रहना चाहिए। हमारे पूर्वज इसी प्रकार की बहुमुखी सेवा साधना का लक्ष्य बनाकर चले थे। हमारी गतिविधियाँ भी उसी प्रकार की होनी चाहिए।

अब समस्त विश्व एक छोटे परिवार की तरह हो गया है। मात्र अपनी कोठरी में झाड़ू लगा लेने से काम नहीं चलेगा, पूरा घर बुहारना पड़ेगा। कोई व्यक्ति या देश अपनी कितनी ही उन्नति

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५५**



क्यों न कर ले, अन्यत्र विकृति बिखरी होगी तो वह उन्नति भी स्थिर न रह सकेगी। हमें आरंभ से ही अपने विकास कार्यक्रमों में आत्मोत्कर्ष के साथ-साथ विश्व-कल्याण की गतिविधियों को भी विस्तृत करते चलना चाहिए। हमारी प्रधान पूँजी आध्यात्मवादी तत्त्वदर्शन है। उसकी अभी कमी नहीं है। स्वामी विवेकानंद, रामतीर्थ आदि ने विश्व-कल्याण की जिन प्रवृत्तियों को हाथ में लिया था उन्हें यथावत चालू रखने की आज वैसी ही आवश्यकता है।



---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५६**

# अमेरिका और भारतीय संस्कृति

अमेरिका महाद्वीप में मानवीय सभ्यता चिर प्राचीन है। वहाँ भी उसी समय से मनुष्य बसते आए हैं जब से कि अन्य देशों में बसे और बढ़े हैं। प्राचीनकाल में रूस और अलास्का के बीच वाला समुद्र नहीं था। मध्य एशिया के वे लोग जिन्होंने भारत बसाया, दूसरे रास्ते अमेरिका पहुँचे थे और वहाँ आबाद हुए थे। कोलंबस के पहुँचने के समय उस देश में प्रायः दस लाख के लगभग आदिवासी (रैड इंडियन) रहते थे।

आधुनिक अमेरिका का इतिहास थोड़े ही दिनों का है। योरोप से भारत के लिए सीधा रास्ता तलाश करने के लिए निकला हुआ क्रिस्टोफर कोलंबस का जलयान १२ अक्टूबर १४९२ को रास्ता भूलकर संयोगवश इस महाद्वीप के तट पर जा लगा, जिसे आजकल अमेरिका कहते हैं। कोलंबस ने सर्वप्रथम वहाँ स्पेन का झंडा गाड़ा। पीछे वहाँ की प्राकृतिक संपदा से लाभान्वित होने के लिए योरोप के दूसरे देशों से भी लोग वहाँ पहुँचे और बसे। हालैण्ड, फ्रांस, इटली, इंग्लैंड, पुर्तगाल आदि के लोगों ने वहाँ अपनी बस्तियाँ बसाईं।

जब योरोपियन लोग अमेरिका महाद्वीप में पहुँचे, तब वह भूखंड सर्वथा जनशून्य था। वहाँ बहुसंख्यक आदिवासी रहते थे जिनके चेहरे भी भारतीयों से मिलते-जुलते थे और चूँकि कोलंबस भारत की तलाश में निकला था, इसलिए उतरते ही उसने यह समझा कि वह भारत आ पहुँचा। अस्तु, वहाँ के निवासियों को उसने भारतीय ( इंडियन ) कहकर संबोधित किया। उनके शरीर अपेक्षाकृत

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५७

अधिक लालिमा लिए हुए थे, इसलिए उस विशेषता के अनुरूप उन्हें ( रेड इंडियन ) कहा जाने लगा।

गोरों ने जब उन्हें खदेड़ना, उजाड़ना शुरू किया और उनके अधिकृत क्षेत्र को हथियाया तो उन्होंने संघर्ष भी किया। किंतु पुराने हाथ से चलाए जाने वाले शस्त्रों और पुरानी युद्ध कला को बारूदी अस्त्रों और चातुर्यपूर्ण युद्ध-कौशल के मुकाबले में सफलता नहीं मिली। रेड इंडियनों का भारी विनाश हुआ। ये बहुत थोड़े रह गए। वंशनाश को बचाने के लिए पीछे गोरों को भी समझ आई और उन्हें सन् १८८७ में कानूनी संरक्षण मिला। अब उनकी संख्या सारे अमेरिका में ५ लाख के करीब है। उनकी कुछ बस्तियाँ कैलीफोर्निया, आरीजोना, न्यूमैक्सिको आदि में बस गई हैं।

इन रेड इंडियनों के दो कबीले 'होपी' और 'हूजा' वनवासी होते हुए भी शाकाहारी हैं। भारतीयों की तरह वे अहिंसा पर विश्वास करते हैं। वनस्पति और अन्न पर गुजारा करते हैं। अपने को देवता की संतान मानते हैं। इनकी शांत और सरल प्रकृति देखते हुए उनकी धर्म प्रकृति में भारतीय आचार की अभी भी झाँकी मिल सकती है।

कहा जाता है कि योरोपियनों के जाने से पूर्व अमेरिका वीरान पड़ा था। उन्होंने जाकर उसे बसाया और सुसंस्कृत बनाया, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। स्पेनिश सैनिक और अधिकारी जब मैक्सिको पहुँचे तो वहाँ भी उन्होंने ऐसे ही एण्डीज सभ्यता के प्रमाण पाए। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ग्वालेटा में 'माया' सभ्यता के अवशेष पाए और यूक्जाक्टन नगरी में ऐसे अवशेष देखे जो वहाँ ईसा की प्रथम शताब्दी में एक समुन्नत सभ्यता का परिचय देते थे। यह खोजबीन जारी रही। उस देश में बिखरे हुए अनेक अवशेष खोजे गए तो स्पष्ट हुआ कि वहाँ ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व भी सुयोग्य और साधन संपन्न मनुष्यों की बस्तियाँ मौजूद थीं। कोलंबिया, इक्वेडोर, पेरू, बोलीविया, चिली आदि में जो प्रमाण बिखरे पड़े हैं

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५८

उनसे पता चलता है कि वह देश सर्वथा सदा से वीरान नहीं रहा है। किसी समय उस देश की स्थिति सुविकसित देशों जैसी ही थी। वहाँ 'माया', 'कुष्का', 'एण्डीज' सभ्यताओं के समुन्नत लोग निवास करते थे।

शोध प्रयत्नों से स्पष्ट होता है कि 'माया' सभ्यता के लोगों को गणित का अच्छा ज्ञान था। उनका अपना पंचांग था, उसमें ३६५ दिन होते थे। नक्षत्र विद्या वे जानते थे और ग्रहण कब पड़ेगा इसकी पूर्व जानकारी रखते थे। उनके भव्य मंदिर थे, जिनमें अखंड अग्नि की स्थापना रहती थी तथा पूजा होती थी। शुक्र ग्रह को अपनी सूर्य परिक्रमा पूरी करने में ५२ वर्ष लगते हैं, इसी आधार पर अखंड अग्नि का नवीनीकरण भी ५२ वर्ष उपरांत होता रहता था।

भारतीय पौराणिक उल्लेख और मैक्सिको में प्रचलित 'किजक्स' गाथाओं में आश्चर्यजनक साम्य था। दोनों की तुलना करने पर लगता है कि बिना तथ्यपूर्ण आधारों के दंत कथाओं में इतना अधिक साम्य नहीं हो सकता। महाभारत के अनुसार 'माया' नगरी पाताल पुरी में थी। वहाँ की राजकुमारी उलूपी का विवाह अर्जुन के साथ हुआ था। 'विष्णु पुराण' में पाताल लोक का और भी अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन है और वह अमेरिका की प्राचीन स्थिति पर वैसा ही प्रकाश डालता है जैसा कि उस तत्त्व के ज्ञाता पुरातत्त्ववेत्ता बताते हैं। मैक्सिको की दंत कथाएँ ही नहीं, वहाँ के सरकारी इतिहास में भी ऐसा ही वर्णन है कि उनके पूर्वज पूर्व से आए थे। जेम्स चर्चमूर ने उन पूर्वजों को विशाल भूखंड के स्वामी, अत्यंत शक्तिशाली और जलयात्रा करने में निष्णात बताया है। वाल्मीकि रामायण में भी 'माया' सभ्यता के अनुयायी भारतीयों की चर्चा लगभग इन्हीं शब्दों में की गई है। डॉ० मार्टिन का प्रतिपादन है कि पूर्व से सूर्यवंशी लोग पुरातन अमेरिका में आकर बसे थे।

मैक्सिको की पुराण कथा है कि उस देश में एक लंबी दाढ़ी, ऊँचे कद, काले बाल और श्वेत वर्ण का महापुरुष किसी अज्ञात

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ५९

देश से आया। उसने इस देश में कृषि, शिल्प तथा शिक्षा का प्रशिक्षण किया। उसका नाम 'क्वेट सालकटली' था। उसी की कृपा से मैक्सिको समुन्नत हुआ। 'कांकेस्ट आव मैक्सिको' के लेखक पोस्कार का अनुमान है कि यह महापुरुष भारत से आया था और उसका भारतीय नाम 'साल कटंकट' था।

वाल्मीकि रामायण सर्ग ८ श्लोक २३-२४ में वर्णन है कि देवताओं से पराजित होकर 'साल कटंकट' वंश के असुर पाताल लोक चले गए थे। ये लोग मूलतः लंका के निवासी थे। अहिरावण आदि का पाताल में रहना और उनका लंका के साथ संपर्क सूत्र जुड़ा होना भी रामायण में लिखा है। इससे भी पाताल लोक अमेरिका में भारतीयों का आवागमन सिद्ध होता है।

अशक्नुवन्तस्ते विष्णुं प्रतयोद्धुं बलार्दिताः ।

त्यक्त्वा लंका गता वस्तु पातालं सह पत्नयः ॥

सुमालिनं समासाद्य राक्षसं रघुसत्तम् ।

स्थिताः प्रख्यात वीर्यासो वंशे साल कटंकटे ॥

“देवराज विष्णु का सामना न कर सकने पर पराजित असुर लंका से पाताल लोक से सपरिवार चले गए। 'सालकटंकट' वंश के असुरों ने अपना निवास वहीं बनाया।”

मैक्सिको निवासियों की प्राचीन सभ्यता 'मय' कहलाती है उसके विभिन्न पक्षों का पर्यवेक्षण करने पर उसके साथ भारतीय सभ्यता का असाधारण साम्य दृष्टिगोचर होता है।

लैली मिचल द्वारा लिखित 'कांकेस्ट आव दि माया' ग्रंथ में मैक्सिको में ऐसे अनेक प्रमाणों का संग्रह है जिनसे पुरातन भारत और मैक्सिको की सांस्कृतिक घनिष्ठता सहज सिद्ध होती है।

मैक्सिको के प्राचीन मंदिर 'कोपन' की दीवारों पर हाथी पर सवार महावत के भित्ति चित्र में भारतीय चित्र कला की अमिट छाप है। 'निकल' में मुंडधारी शिव की प्रतिमा एक भव्य वेदी पर प्रतिष्ठित मिली है। अनंत, वासुकि और तक्षक सर्प देवताओं की प्रतिमाएँ मंदिर

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६०

के स्तंभों पर खुदी मिली हैं। 'क्वीरिगवा' में मिली मिट्टी की प्राचीन प्रतिमाओं में भारतीय शिल्प देखा जा सकता है। मंदिरों में भित्ति चित्रों पर सोने का काम हुआ है। जिस काल के मंदिर हैं उस समय सोना केवल देवताओं के लिए ही भारत में प्रचलित हुआ था। अन्यत्र न तो वह उपलब्ध था और न उसका प्रयोग होता था। स्वर्ण खचित मैक्सिको के भित्ति चित्रों की कला उस देश के साथ भारत की घनिष्ठता का प्रमाण देती है। मय-सभ्यता में गणेश, इंद्र और हनुमान की देवपूजा प्रचलित थी। मृतकों का दाह-संस्कार होता था। श्राद्ध, तर्पण का प्रचलन था। धार्मिक और दार्शनिक मान्यताएँ भी भारत से मिलती-जुलती थीं। इस प्रकार के अनेक प्रमाण भारत और मैक्सिको के बीच आवागमन तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान का प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत करते हैं।

मैक्सिको के सरकारी इतिहास ग्रंथ में उल्लेख है कि उस देश में 'माया' सभ्यता पर प्रकाश डालने वाला किसी समय प्रचुर साहित्य उपलब्ध था। लेकिन उसे ईसाई विशप 'डियागो' ने होली की तरह जलवा दिया, किसी प्रकार तीन पुस्तकें बच गई थीं, जिसमें से एक पेरिस में, एक मेड्रिड में और तीसरी ड्रेसडन में सुरक्षित है।

शोधकर्त्ताओं ने यह स्वीकार किया है कि 'माया' और 'इन्का' सभ्यताओं के समय वहाँ के निवासी नाप-तोल, शासन व्यवस्था, धर्म, सामाजिक परंपराओं तथा उस क्षेत्र को सुरम्य और समुन्नत बनाने में शताब्दियों तक बड़ा परिश्रम करते रहे। समय के किस कुचक्र ने उन्हें क्यों और कैसे विनाश के गर्त में धकेल दिया इस संबंध में भी कुछ अधिकृत रूप से नहीं कहा जा सकता है। तो भी यह मानने में अड़चन नहीं रह जाती कि उस देश को समुन्नत बनाने का श्रीगणेश भारतवासियों द्वारा ही किया गया था।

कुछ समय पूर्व अमेरिका की 'जान होपकिन्स' नामक पत्रिका में एक शोधपूर्ण लेख छपा था, जिसमें अनेक प्रमाण यह सिद्ध करने

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६१**

के लिए प्रस्तुत किए गए थे कि प्राचीन भारत और प्राचीन अमेरिका में घनिष्ठ संबंध था। व्यापारी और धर्मोपदेशक लंबी जल यात्राएँ करके आते-जाते थे।

उपलब्ध खंडहरों में मंदिर और देवी-देवताओं की मूर्तियों के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, वे बताते हैं कि उस समय अमेरिका एक प्रकार से भारतवर्ष का सांस्कृतिक उपनिवेश ही था। इंद्र, अग्नि, गणेश, शिव और सूर्य की मूर्तियाँ वैसी ही हैं जैसी भारत में पाई जाती हैं। मंदिरों और भवनों का निर्माण भारतीय वास्तु कला के अनुरूप ही है। राजमुकुट, आभूषण, पात्र, शस्त्र औजार आदि का मिलान करने पर उनका साम्य तत्कालीन भारतीय प्रचलन के अतिरिक्त और किसी के साथ बैठता ही नहीं। उन दिनों मैक्सिको में 'राम-सितवा' त्योहार भारी उत्साह के साथ मनाया जाता था। भारत में रामलीला जैसा "राम-सीता" के चरित्रों का उसमें प्रदर्शन होता था। एक खंडहर में नाग-प्रतिमा ठीक उसी आकृति की है जैसी भारत के साँची नगर में विद्यमान है।

भारत में जिस प्रकार समाधि, स्तूप एवं स्मारक बनाए जाते हैं ठीक उसी प्रकार के गगनचुंबी स्तूप अमेरिका में बनते थे, जिन्हें 'टिकल' कहा जाता था। "टिकलों" में देवपूजा के विविधविधि-विधान संपन्न होते थे।

टोलो (मैक्सिको) में विशालकाय पाषाण स्तंभों पर भारतीय देवताओं की प्रतिमाएँ बड़े कलात्मक ढंग से खुदी हुई हैं। कोयून (हाण्ड्रास-दक्षिण अमेरिका) में दैत्य की मूर्ति भी उसी आकृति में है जिस प्रकार असुरों का अपने यहाँ वर्णन पाया जाता है। 'कापूरिंगो' (ग्वाटेमाला) में उपलब्ध शिला-प्रतिमाओं में स्पष्टतः भारतीय शिल्प छलकता देखा जा सकता है। जिस प्रकार अनेक खंभों वाले मंदिर भारत में जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार 'यूक्टास' के ध्वंशावशेष 'थाउजेंड कालम्स' (हजार स्तंभ) को देखा जा सकता है। बिना चूना-गारे की सहायता से केवल पत्थरों से बने भवन भारत

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६२

की विशिष्ट वास्तु कला के अंग हैं। ऐसा ही एक तक्षशिला जैसा ध्वस्त खंडहर चाको (अमेरिका) में विद्यमान है। पत्थरों की कलात्मक खुदाई के वैसे ही नमूने अमेरिका के खंडहरों में भी मिले हैं जैसे कि उत्तर भारत के प्राचीन राजमहलों अथवा देवालियों में दृष्टिगोचर होते हैं।

इसी काल के शिलालेख भारत के साथ सांस्कृतिक संबंध होने की पुष्टि करते हैं। 'सालोमन का न्याय' और 'महा साधना जातक' की साहित्यिक पृष्ठभूमि में असाधारण साम्य है। विशालकाय जलयान बनाने का इतिहास भारतीय नेतृत्व में ही आरंभ होता है। सुदूर के भूखंडों तक समुद्र की दूरी को चीरते हुए पहुँच सकने की क्षमता उसी की थी। यही कारण है कि अमेरिका जैसे दूरवर्ती देश में भी भारतीयों का आवास-प्रवास क्रम चल पड़ना संभव हो सका।

अमेरिका प्राचीनकाल में सर्वथा सुनसान अथवा अविज्ञात देश नहीं रहा है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में गोरे लोग वहाँ जाकर बसे और उस महाद्वीप को फिर से आबाद किया। इससे पूर्व वहाँ 'मय सभ्यता' के ऐसे अनेकोनेक प्रमाण पाए जाते हैं कि वहाँ सुविकसित और सुसंपन्न लोग निवास करते थे। १८०० फीट ऊँचा शिवलिंग, विशाल सूर्य मंदिर, विशाल भवन, वास्तु शिक्षा, लेखन-वाचन उपकरण, कई तरह के औजार, प्रामाणिक काल गणना का पंचांग वहाँ मिले हैं और प्रचीनकाल की मय सभ्यता का पता चला है।

पुराणों के अनुसार 'मय सभ्यता' का नामकरण मय दानव के नाम पर हुआ। जो देवों से युद्ध में हार कर पाताल लोक चला गया था। पृथ्वी का गोलाद्ध देखने से स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका भारत के ठीक पीछे या नीचे है। पाताल अर्थात् नीचे का लोक, इसे नाग लोक भी कहते हैं। इस क्षेत्र के निवासी नागवंशी थे। इसी से उसका नाम नाग लोक पड़ा। दुर्गा सप्तशती में कितने ही राक्षसों के पाताल चले जाने का वर्णन है। भगवती दुर्गा ने उन्हें परामर्श दिया—  
**“यूयं प्रयात पातालं यदि जिवितुमिच्छथः।”** अर्थात् **“यदि तुम**

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६३**



जीवित रहना चाहते हो तो पाताल चले जाओ।” वे लोग बड़ी संख्या में पाताल चले गए और वहाँ बस गए। अपने समुन्नत ज्ञान एवं पराक्रम से उनने उस भूमि क्षेत्र को समृद्ध बनाया।

लाखों वर्षों में पृथ्वी का मानचित्र बहुत बदलता रहा है। आज जहाँ समुद्र है, वहाँ कभी थल था। इस समय जो भू भाग दिखाई पड़ते हैं, वे कभी अथाह जलराशि के गर्त में डूबे हुए थे। भू-गर्भ में होने वाली उथल-पुथल, हिम प्रलय, वृष्टि असंतुलन, पृथ्वी की धूरी में हेर-फेर, ध्रुव प्रदेशों में परिवर्तन जैसे कारणों ने थल को जल में और जल को थल में परिणत किया है। इसलिए भू खंड कटते और जुड़ते रहे हैं। आज के किन्ने ही क्षेत्र जो समुद्र पार हैं, वे प्राचीनकाल में एक ही थल भाग के अंतर्गत थे और बिना जलयानों के ही वहाँ जाना संभव था। इसके अतिरिक्त नौकायन था। इसके अतिरिक्त नौकायन की कला भी अति प्राचीनकाल से ही मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त होती आई है। उस समय के दुस्साहसी लोग लंबी समुद्र यात्राएँ करने में अपने पुरुषार्थ का परिचय देते रहे हैं। इसलिए इस संदेह के लिए गुंजाइश नहीं रह जाती कि जो देश आज समुद्र पार हैं, वहाँ भारतीय सभ्यता किस प्रकार पहुँच पाई होगी? वस्तुतः वैसी कठिनाई थी नहीं और सूदूर देशों का यातायात उन दिनों के साधनों से भी भली प्रकार संपन्न हो जाता था।

अब से दो-सौ वर्ष पूर्व तुर्की नौ सेना के अध्यक्ष पीरी का बहुत-सा सामान तोपकापी के राजभवन में मिला था। उसमें एक अति प्राचीनकाल का भू-सर्वेक्षण का एक नक्शा भी मिला। यह मुद्दतों बर्लिन के शाही अजायब घर में रखा रहा। उस पर संसार भर के भू-विज्ञानवेत्ता खोज करते रहे। अंततः अमेरिका के विशेषज्ञ आलिंगटन मलारी ने उस पर जो रिपोर्ट दी है, उसमें उस नक्शे को किसी समय का अत्यंत प्रामाणिक मानचित्र बताया गया है। इसमें भारत, मिश्र, मध्यपूर्व तथा योरोप को एक ही थल-खंड दिखाया गया है। समुद्री व्यवधान जिस तरह अब हो गए और उस कारण से

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६४

जो विभाजन हो गया है। वह उस समय नहीं था। तब अमेरिका से भी उस भू खंड की दूरी अधिक नहीं थी। उस समय बहुत सा अमेरिका तो पानी में डूबा हुआ था, जो पीछे समुद्र तल से उभर कर ऊपर आ गया।

सन् १९२७ में 'तिआ हुआना' (पेरू दक्षिण अमेरिका) में पुरातत्त्व विभाग ने जो खुदाई कराई है, उसमें एक ऐसा शिव त्रिशूल मिला है, जिसकी ऊँचाई ८५० फीट है। इसी में २० टन भारी और २४ फीट लंबा एक शिवलिंग भी है, जिस पर ग्रह-नक्षत्रों की आंतरिक स्थिति अंकित है। एक ही पत्थर से तराशा हुआ १० टन भारी सूर्य मंदिर द्वार, तीन कतारों में उपलब्ध ४८ प्रतिमाएँ भी उस काल के कला-कौशल की साक्षी देते हैं।

शोधकर्ता एच० एस० वेलामी और पी० अलान ने उस सामग्री पर शोध पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें सिद्ध किया गया है कि यह सामग्री अब से २७ हजार वर्ष पुरानी है। उस समय के पंचांग से पता होता है कि उस समय पृथ्वी की धुरी और कक्षा वर्तमान समय की अपेक्षा भिन्न प्रकार की थी। तब वर्ष २५२ दिन का था, ३६५ दिन का नहीं।

पेरू शब्द का अर्थ संस्कृत में "सूर्य का देश" है। सूर्य-पुत्रों का देश पेरू कहा जाए यह स्वाभाविक ही है। भारतीयों का दिया हुआ यही नामकरण पेरू में अभी भी प्रचलित है।

अमेरिका से २४०० मील दूर "हवाई द्वीप समूह" पर आज अमेरिका का शासन है। किसी समय वहाँ भारतीयों का आधिपत्य था। वहाँ की चट्टानों पर जो आकृतियाँ खुदी हुई हैं, वे मोहन जोदड़ो और हड़प्पा में पाई गई मुहरों पर खुदी आकृतियों से हूबहू मिलती हैं। शिलालेखों और उपलब्ध प्रतिमाओं में सूर्य देवता तथा त्रिशूल, चक्र, पद्म, शंख आदि देव आयुधों की आकृतियाँ हैं। इसी द्वीप समूह के एक द्वीप 'कोउ आई' के संग्रहालय में ऐसे अनेक प्रमाण सुरक्षित हैं और भारतीय पुरातत्ववेत्ता डॉ० छावड़ा ने उस देश

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ६५**

में भ्रमण करके ऐसे ४० प्रमाण संग्रह किए थे, जिनसे भारत के साथ उन देशों के प्रगाढ़ संबंधों का परिचय मिलता है। हवाई द्वीप निवासी लोगों की आम धारणा है कि उनके पूर्वज भारतीय थे। उनकी मुखकृतियाँ स्पष्टतः भारतीयों से ही मिलती हैं। यूरोपियनों तथा अमरीकनों से उनका रक्त संबंध तनिक भी नहीं दीखता, यों अब वहाँ पाश्चात्य सभ्यता का ही बोलबाला है। इस प्रदेश की भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार पाई जाती है।

अमेरिका में इंग्लैंड के लोग अधिक पहुँचे। जन बल, धन-बल और शस्त्र बल की शक्तियाँ भी उन्हीं के पास अधिक थीं, तदनुसार उन्हीं का शासन उस देश पर स्थापित हो गया। पहले इंग्लैंड की सरकार ही वहाँ पर शासन करती थी। पीछे वह देश स्वतंत्र हो गया। फिर भी वहाँ की संस्कृति, भाषा और विशिष्टता अभी भी इंग्लैंड मूल के लोगों की ही है। इसी विशाल भू-भाग पर एक खंड कनाडा है। कनाडा ४० लाख वर्ग मील में बसा है। बहुत-सा क्षेत्र अँगरेजों का है। ३० प्रतिशत फ्रांसीसी रहते हैं। बड़ी संख्या में योरोपियन भी रहते हैं। आबादी २५ करोड़ के करीब है।

कनाडा में भी आदिवासी बसे हुए हैं। उन्हें भारतीय मूल का माना जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में उन्हें, रेड इंडियन कहा जाता है, किंतु कनाडा के मूल निवासी 'इंडियन' शब्द से ही संबोधित किए जाते हैं। उनके साथ रेड का विशेषण नहीं लगाया जाता। इतिहास विशेषज्ञों का मत है कि प्राचीनकाल में एशिया और अमेरिका के बीच थल-मार्ग था। मध्य एशिया के आर्य वंश के लोग वहाँ पहुँचे तो उन्होंने इन 'इंडियनों' को वहाँ बसा पाया। अब से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व उनकी संख्या कनाडा में दो लाख थी। उजाड़ने की हठ ने उन्हें बर्बाद कर दिया। पीछे वहाँ भी समझ आई और तब से उन्हें कुछ विशेष सुविधाएँ दीं और उनकी समस्याओं का समाधान खोजने के लिए एक विशेष विभाग बनाया। वंश-विनाश से बचे लोगों की संख्या अब पुनः बढ़ने लगी है और दो

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६६**

लाख के करीब जा पहुँची है। अब उनकी व्यवस्थित बस्तियाँ स्थापित हो गई हैं।

अमेरिका निवासियों को भारतीय दर्शन और संस्कृति में गहरी दिलचस्पी है। यों उस देश में पूरी तरह ईसाई धर्म ही फैला हुआ है, अन्य धर्मावलंबी नगण्य संख्या में हैं। फिर भी वहाँ के विज्ञ वर्ग का विश्वास है कि भारतीयता और मानवता एक ही तथ्य के दो नाम हैं। भारतीय संस्कृति कभी विश्व संस्कृति रही है और भविष्य में यदि समस्त विश्व में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने की आवश्यकता पड़े तो उस प्रयोजन की पूर्ति में भारतीय तत्त्वदर्शन की ही प्रमुख भूमिका रहेगी। उसमें वे सभी बीज मौजूद हैं जिनके आधार पर मानवीय एकता और महानता का परिपोषण हो सके। भूतकाल में विश्व को अनुपम अनुदान देने वाली और मानवीय उत्कर्ष में असाधारण योगदान देने वाली भारतीय संस्कृति को अमेरिका में बहुत श्रद्धा और गंभीरता से समझने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि प्रगति और शांति के लिए भविष्य में भी उन तथ्यों का उपयोग किया जा सके।

अमेरिका के तत्त्वदर्शी 'विल ड्यूरेस' ने भारत भूमि को अनेक दृष्टिकोणों से अमेरिका की भी माता माना है। वे कहते हैं—  
“भारतभूमि में उत्पन्न बौद्ध धर्म ने ईसाई धर्म की नींव रखी—उनकी संस्कृति ने हमारी ईसाइयत को जन्म दिया—वहाँ की प्राचीन गणतंत्र प्रणाली ने अर्वाचीन प्रजातंत्र को जन्म दिया। दर्शन और संस्कृति की दृष्टि से वह समस्त मानव जाति को बहुमूल्य प्रेरणाएँ प्रदान करती रही है। भारतभूमि उस देशवासियों की ही नहीं अमेरिकनों की भी माता है।”

अमेरिका के प्रख्यात दार्शनिक एमर्सन और थोरो पर भारतीय विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा है और उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे भारतीय चिंतन का उभार पग-पग पर परिलक्षित होता है। एमर्सन के काव्य 'ब्रह्म' को गीता और उपनिषदों का सार ही कहना

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६७**

चाहिए। उनका “दि ओवर सोल” निबंध भारतीय चिंतन का प्रामाणिक परिचय माना जाता है।

अमेरिकी कवि “ह्विटमैन” के कविता संग्रह “लीक्स आव ग्रास” को वेदांत का भावानुवाद कहा गया है। उस देश के मान्य लेखक मार्कट्वेन सन् १८९५ में भारत-भ्रमण के लिए आए थे। लौटने पर उन्होंने अपना भ्रमण वृत्तांत “फ्लाइंग द इक्वेयर” नामक पुस्तक के रूप में छपाया है। इसमें उन्होंने भारतीय दर्शन और अध्यात्मिक चिंतन की गरिमा पर गहरा प्रकाश डाला है। अमेरिका के अर्वाचीन लेखक और कवि टी० वी० इलियट की रचनाओं और कविताओं में उपनिषदों के संदर्भ भरे पड़े हैं। केलिफोर्निया में “क्रिस्तकर इशरवुड” ने गीता के समस्त श्लोकों का अँगरेजी पद्यों में अनुवाद किया है। इतना ही नहीं वे भारतीय योग-पद्धति से साधारण जीवन भी बिताते रहे हैं।

अँगरेजी का एक लोकप्रिय उपन्यास “रेजर्स एज” है। “कठोपनिषद्” के “क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया” श्लोक के प्रथम शब्द “क्षुरस्य धारा” पर इसका नामकरण किया गया है। “क्षुरस्य” का अर्थ “रेजर” स्पष्ट है। यह उपन्यास अमेरिका में इतना लोकप्रिय हुआ कि इसकी तीस लाख प्रतियाँ हाथों हाथ बिक गईं।

इसी परंपरा में हर्मन मैलाविन और एमोस ब्रॉन्सन आल्कोट के नाम आते हैं, जिन्होंने भारतीय दर्शन को गहराई तक समझने में अपने जीवन का अधिकांश भाग समर्पित कर दिया और जो पाया उसे बड़ी सुंदरता के साथ जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। महाकवि वाल्ट ह्विटमैन की “दि काटिलस” पढ़ने से वे अमेरिकी नहीं वरन भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत कोई संत प्रतीत होते थे।

हारवर्ड विश्व विद्यालय से अब तक “प्राच्य ग्रंथमाला” के अंतर्गत ४० से अधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इसकी पाठ्य सामग्री में विशेषतया भारतीय धर्म, अध्यात्म तथा दर्शन का ही प्रमुख रूप से उल्लेख है। “येल” की पुस्तक “हिंदू-पैथिज्म”

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ६८

सामान्य पाठक को संक्षेप में हिंदू धर्म की अच्छी जानकारी करा देती है।

राल्फ, वाल्डो, इमर्सन, हेनरी, डेविड, थोरो जैसे विद्वानों ने न केवल जनता को भारतीय दर्शन से परिचित कराया, वरन स्वयं अपने आचार-व्यवहार को उसी ढाँचे में ढालने का सफल प्रयत्न किया। उनके विचारों पर भारतीय चिंतन की गहरी छाप थी। उन्होंने अपनी लेखनी और करनी से जो कुछ कहा है, उसे तत्त्वतः भारतीय दर्शन का अपने ढंग से किया हुआ प्रचार कहा जाए तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। उन्होंने अमेरिकन जनता के मन में भारतीय दर्शन के प्रति गहरी श्रद्धा जमाने और अभिरुचि उत्पन्न करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है।

अमेरिका के संस्कृतज्ञ उद्भव विद्वान मौरिस ब्लूमफील्ड एवं वाल्टीमोर ने वेद चेतना पर एक शोधपूर्ण ग्रंथ लिखा है, जो “हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज” के अंतर्गत छपा है। इसके लेखन, संपादन और प्रकाशन ने में १४ वर्ष लगे हैं और प्रचुर धन खर्च हुआ है। इस ग्रंथ में वेदों के महत्त्वपूर्ण और जटिल प्रमाणों का सरलता एवं प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुतीकरण किया गया है। यों इस विषय पर इससे पूर्व वान थियोडोर बर्ग, जार्ज वुडलर आदि विद्वान कलम उठाते रहे हैं, “वैदिक कौन्कोडन्स” ने बिखरी जानकारियों को एक सूत्र में पिरो देने और जनसाधारण को वेदों की पृष्ठभूमि बता देने में अनोखी सफलता प्राप्त की है।

जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक “दि सीक्रेट बुक ऑफ ईस्ट” प्रकाशित कराई तो पाश्चात्य जगत को भारत की महान संस्कृति एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि का पता चला। इसके बाद दूसरी पुस्तक “इंट्रोडक्शन टू दि साइंस आव रिलीजन” छपी। उन्ही दिनों जेम्स फ्रीमेन क्लार्क की “टैन ग्रेट रिलीजन्स” छपी। इन पुस्तकों का समस्त योरोप विशेषतया अमेरिका में जोरों का स्वागत हुआ। तब तक भारतीय दर्शन को रूढ़िवादी, पुरातन

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ६९**

पंथी मात्र समझा जाता था। इन पुस्तकों ने लोगों की आँखें खोल दीं। क्लार्क अमेरिकी थे। इनकी पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि थोड़े ही समय में उसके २३ संस्करण बिक गए। भारतीय धर्म और दर्शन की खोज के लिए अमेरिकी उत्साह और भी आगे बढ़ा और आत्मिक ज्ञान पिपासा पर गहरा प्रकाश डालने वाले ग्रंथ एक के बाद एक प्रकाशित होते चले गए। एडवर्ड हैल की 'द एज ऑफ फेबल' एवं 'ओरियण्टल रिलीजन एंड देअर रिलेशन्स टु यूनिवर्सल रिलीजन' नाम की पुस्तकें छपीं। हिंदू धर्म और बौद्ध के संबंध में जानकारी देने वाली उपयुक्त पुस्तक 'दि एज ऑफ फेबल' उस देश के ज्ञानपिपासुओं में बहुत लोकप्रिय है। एडविन आनरोल्ड के 'लाइट आव एशिया' में भारत के स्वर्णिम अतीत का अच्छा वर्णन है। इस संदर्भ में अधिक अध्ययन, अन्वेषण करने के लिए 'अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी' एवं 'यूनिटेरियल सोसाइटी' ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। उसके प्रयास से उस देश के प्रबुद्ध वर्ग ने भारतीय दर्शन की गरिमा अधिक अच्छी तरह जानने और उससे प्रकाश ग्रहण करने का अवसर प्राप्त किया है। इस प्रयास में संलग्न विद्वान एलब्रिज सेल्सबरी, विलयम हवितनी, एलटू येल का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है।

अमेरिका और भारत के प्राचीन एवं अर्वाचीन संबंधों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकों में से कुछ निम्नलिखित हैं—  
 (१) चमनलाल कृत—'हिंदू अमेरिका' (२) चेसली बैटी कृत—'अमेरिका बिफोर कोलंबस' (३) प्रो० हेम्बरेटो कृत—'टेन थाउजेण्ड इयर्स ओल्ड सिविलिजेशन्स इन अमेरिका' (४) स्वान्टन कृत—'इण्डियन ट्राइक्स ऑफ नार्थ अमेरिका' (५) कम्पाजेट कृत—'दी हेरिटेज आव अमेरिका' (६) रावलिन्सन कृत—'इण्टर पीस बिट्वीन इण्डिया एंड दि वेस्ट' (७) हेरिसन कृत—'इण्डिया एंड द यूनाइटेड स्टेट्स' (८) जे० टी० रीट कृत—'टू कल्चर्स मीट एट तारा देवी' (९) थैकर कृत—'लास्ट वर्ड आव ए अमेरिकन लेडी एबाउट

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७०**

इण्डिया' (१०) पी० एस० वर्मा कृत-‘हण्ड्रेड फिफटीन इयर्स आव इण्डो अमेरिकन कोआपरेशन इन कल्चरल फील्ड्स’ (११) ‘टीचिंग आव सिक्स गुरुज इन अमेरिका’ (१२) ‘इन्फ्लुएंस आव इंडियन फिलासफी इन वेस्टर्न कल्चर’ (१३) एमर्सन कृत-‘ए वैस्टर्न स्पिरिचुअल लीडर इम्प्रस्टेड विद इण्डियन फिलासफी’ (१४) जान रीड कृत-‘इण्डियन इन्फ्लुएंस आन यू० एस० ए० लिटरेचर’ (१५) पी० एस० वारी कृत-‘वेदांत इन यू० एस० ए०’ (१६) टी० जेजेज कृत-‘इण्डिया अमेरिका एंड वर्ल्ड ब्रदरहुड’ (१७) फीचर कृत-‘बुक्स आन इंडिया।’

अमेरिका में आठ विश्व विद्यालयों में संस्कृत शिक्षा की व्यवस्था है-येल, हारवर्ड, कोलंबिया, पेन्सिलवेनिया, जौन्स, हाफकिन्स, शिकागो, प्रिंस्टन। कैलीफोर्निया में संस्कृत शिक्षा पहले से ही दी जाती है। अब अन्यान्य शिक्षा संस्थाओं में भी इसका प्रचलन हो रहा है।

विश्व में बौद्ध धर्म सुधरे हुए हिंदू धर्म के रूप में ही गया है, अतः उसका प्राचीन ब्राह्मण धर्म की तुलना में अधिक स्वागत हुआ है। अमेरिका में बौद्ध धर्म को सम्मानास्पद स्थान मिला है।

सन् १९१५ की जनगणना में वहाँ केवल ४० हजार बौद्ध थे। सन् १९६१ की जनगणना में उनकी संख्या ५ लाख तक पहुँच गई। हवाई द्वीप समूह में बौद्ध धर्मानुयायी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं। पहला बौद्ध मठ अमेरिका के सान फ्रांसिस्को नगर में सन् १९०५ में बना था। अब उस देश में ५४ मठ और ७० स्थिंवर हैं। “फ्रेण्डस आव बुद्धिज्म सोसाइटी” इस दिशा में सराहनीय काम कर रही है। उसके लिए आचार्य धर्मपाल ने लगभग वैसा ही कार्य किया जैसा स्वामी विवेकानंद ने।

थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापक कर्नल अल्काट अमेरिकी थे। उन्होंने १८८० में लंका आकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। मैडम ब्लैवटस्की, ऐनी बीसेण्ट आदि की सहायता से उन्होंने

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७१**



संसार में थियोसाफी का प्रसार किया। कहना न होगा कि इस दर्शन में ८० प्रतिशत हिंदू धर्म की मान्यताओं का ही समावेश है।

स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ आदि भारतीय संतों ने अमेरिका में जिस तरह, जिस रूप में हिंदू धर्म को प्रस्तुत किया उससे वहाँ इसके प्रति और भी अधिक श्रद्धा सद्भावना का विकास हुआ।

अमेरिका के आध्यात्मिक नेताओं ने शिकागो नगर में 'विश्व धर्म सम्मेलन' का आयोजन किया जो सन् १८९३ में मई से अक्टूबर तक चला। इसमें भारत के प्रतिनिधि के रूप में स्वामी विवेकानंद और अन्य कई विद्वान पहुँचे। इसके बाद स्वामी जी ने घूम-घूमकर कई संस्थाओं में भाषण दिए और भारतीय तत्त्वज्ञान की जीवन में कितनी आवश्यकता है इस तथ्य का परिचय कराया। तत्कालीन पत्रों ने स्वामीजी के विचारों का भरसक प्रसार किया और उसके प्रतिपादन को एक स्वर से सराहा।

स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित वेदांत आंदोलन का आरंभ न्यूयार्क से हुआ था। अब तक वह बहुत व्यापक बन चुका है। उसका संचालन दस समर्थ केंद्रों द्वारा होता है। ये केंद्र बोस्टन, प्रोविडेन्स, सान फ्रांसिस्को, पोर्टलैंड, शिकागो, सेण्ट लुई, लॉस एंजिल्स, सियेटल में स्थापित हैं। इनमें 'सैन एनटोन घेरी' का आश्रम सबसे पुराना है। कैलीफोर्निया में दो वेदांत आश्रम हैं—एक 'आलमा आश्रम' दूसरा 'लैक्टाही'। पोर्टलैंड आश्रम १२० एकड़ में है। न्यूयार्क में रामकृष्ण विवेकानन्द केंद्र ने एक और नया आश्रम 'थाउजैण्ड पार्क' में विवेकानंद कुटीर के नाम से खोला है। इन केंद्रों में कितने ही हिंदू मिशनरी रहते हैं और प्रचार कार्य करते हैं। वेदांत धर्म का प्रतिपादन करने वाला छोटा-बड़ा अँगरेजी साहित्य भी इन केंद्रों से प्रकाशित होता है। इन केंद्रों को अमेरिकी जनता ने प्रचुर साधन प्रदान किए हैं। प्रभावित, संबंधित और सहयोगी लोगों

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ७२**

में उच्चकोटि के बुद्धिजीवी कलाकार एवं प्रभावशाली लोगों की बहुत बड़ी संख्या है।

स्वामी विवेकानंद के पश्चात स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिकी जनता को हिंदू दर्शन के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी और उस ओर प्रबुद्ध वर्ग की गहरी दिलचस्पी पैदा की। वे १९०२ में जापान के 'विश्व धर्म सम्मेलन' में भाग लेने के उपरांत अमेरिका पहुँचे थे। वे उस देश में लगभग दो वर्ष रहे। इस अवधि में उन्होंने वहाँ की जनता पर जो छाप छोड़ी, वह चिरकाल तक अविस्मरणीय मानी जाती रहेगी। वहाँ के पत्रों ने उन्हें 'जाग्रत ईसा' तक कहा।



# योरोप का आर्यावर्त-जर्मनी

जर्मनीवासियों की मान्यता है कि वे आर्य रक्त के विशुद्ध उत्तराधिकारी हैं। प्राचीनकाल में हिमालय की उपत्यकाओं में आर्य वंश विकसित हुआ था। वहाँ से वे लोग भारत की ओर गए। भूमंडल के अधिकाधिक क्षेत्र की सेवा-साधना करने की महत्वाकांक्षाओं ने उन्हें भारत से मध्य एशिया के मार्ग से होकर योरोप महाद्वीप की ओर गतिशील होने की प्रेरणा दी। उन दिनों योरोप का जितना क्षेत्र यातायात की संभव सीमाओं में आ सका, वहाँ वे गए और बसे।

चूँकि अन्यान्य क्षेत्रों में स्वल्प संख्या में पहुँचे थे इसलिए वहाँ के आदिवासियों के साथ उनका रक्त सम्मिश्रण होता चला गया और ऐसी नसल बन गई जिसे विशुद्ध आर्यवंशी नहीं कह सकते।

द्वितीय महायुद्ध में पराजित जर्मनी के अधिनायक हिटलर ने अपनी पुस्तक “मीन केम्फ” में इस तथ्य को बहुत जोर-शोर से उभारा कि जर्मन लोग ही विशुद्ध आर्यरक्त के हैं। उसी देश में प्रागैतिहासिक काल में आर्य लोग समुचित संख्या में बसे और उन्होंने रक्त शुद्धि का विशेष रूप से ध्यान रखा। वह परंपरा यथावत कायम है और जर्मन लोग नसल की दृष्टि से विशुद्ध आर्यवंशी कहलाने के अधिकारी हैं। भारतीयों के बारे में उसने आक्षेप लगाया है कि वे लोग अब विशुद्ध आर्यवंश के नहीं रहे। द्रविण आदि आनार्यों के साथ उनके रक्त का सम्मिश्रण हुआ है। अन्यान्य देशों से भी बहुत लोग वहाँ आते, बसते और वंशवृद्धि करते रहे हैं। इस प्रकार भारतीय रक्त की दृष्टि से वर्णशंकर स्तर के हो गए हैं। उनकी मुखाकृति और दूसरी विशेषताएँ वैसी नहीं रहीं जैसी कि आर्यवंशियों की होनी चाहिए।

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ७४**

यों जर्मनी में इन दिनों ईसाई धर्म ही प्रचलित है, वहाँ के निवासी हिंदू धर्मानुयायी नहीं हैं, तो भी उन्हें आर्य संस्कृति और उसके तत्त्वदर्शन पर भारी गर्व है। उसके संबंध में अधिकाधिक जानने की, सारगर्भित रहस्यों के उद्घाटन की और सर्वतोमुखी प्रगति के आधारभूत प्रकाश को अपनाने की उतनी तीव्र उत्कंठा है, जितनी कि हम भारतीयों में भी नहीं देखी जाती।

हिटलर ने नाजी पार्टी का प्रतिक चिन्ह 'स्वस्तिक' ( ) बनाया था। यही आर्य धर्म का आदि प्रतीक है। स्वस्तिक का ही सुधरा रूप 'ॐ' है। ॐ का उपयोग प्रत्येक मंत्र के आरंभ में तथा अन्यत्र उपासना क्रमों में होता है। मांगलिक कार्यों एवं स्थानों में स्वस्तिक को चित्रित किया जाता है। भारत में सांप्रदायिक बिखराव आने से और भी प्रकार की सांकेतिक पूजाएँ चल पड़ी हैं, किंतु आर्य वंश के आदि प्रतीक स्वस्तिक को आधारभूत पाकर जर्मनी ने उसी को अपने सांस्कृतिक संबल के रूप में अपनाया।

जर्मन विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि जर्मन शब्द 'शर्मन' शब्द का अपभ्रंश है। भूतकाल में वहाँ भारतीय ब्राह्मण पहुँचे थे और उस देश का नामकरण करते हुए सांस्कृतिक मान्यताओं का सूत्रपात किया था।

हिटलर ने जर्मन जाति को आर्य रक्त की उत्तराधिकारी के रूप में राजनैतिक रंग देकर बहुत उभारा था, यह ठीक है, पर इससे पूर्व भी उस देश के विद्वान बहुत दिनों से भारतीय संस्कृति की ओर असाधारण रूप से आकर्षित रहे हैं। वे उसके संबंध में अधिकाधिक जानने के लिए घोर परिश्रम भी करते रहे हैं। कहते हैं कि आकर्षण इसलिए भी अधिक था कि वेद को ज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान का भी भांडागार माना जाता रहा और यह समझा जाता रहा है कि यदि वेद भंडार के रहस्यमय वैज्ञानिक तथ्यों को जाना जा सके तो भौतिक प्रगति के अनेकों सारगर्भित सूत्र हाथ में आ सकते हैं। संभव है जर्मन मनीषियों ने ज्ञान के साथ विज्ञान का दुहरा लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से प्राचीन भारत के आर्य साहित्य की खोजबीन करने में अधिक उत्साह दिखाया हो।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७५**

जो हो यह निश्चित है कि लगन, परिश्रम और मनोयोग के साथ पिछली शताब्दियों में जर्मन मनीषियों द्वारा आर्य-साहित्य की खोज की गई है, वह अनोखी है। संसार भर में अन्यत्र कहीं से भी उतना उत्साह नहीं दिखाया गया। यहाँ तक कि भारत में भी उतनी अभिरुचि और तत्परता नहीं रही। संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा में वेद का अनुवाद होने का श्रेय जर्मनी को ही मिलेगा। भारत में हिंदी भाषा में जो अनुवाद हुए हैं, उनमें से बहुतों में प्रायः जर्मन अनुवाद का सहारा लिया गया है।

वेदों की ज्ञान गरिमा और महत्ता से विज्ञ समाज को परिचित कराने, विस्तृत करने में जर्मन विद्वान प्रो० मैक्समूलर ने असाधारण श्रम और मनोयोग नियोजित किया है। संस्कृत भाषा के इस महा पंडित ने ऋग्वेद का अनुवाद किया। वह सन् १८९४ में प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त उन्होंने वेद वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकाश में लाने के लिए अन्य कई गवेषणा भरे ग्रंथ लिखे हैं। 'सिक्रेट बुक आव दि ईस्ट' पुस्तकमाला के अंतर्गत इनका प्रकाशन हुआ है और वह शोध-निबंधों में प्राच्य विद्या के संबंध में बहुत ही प्रामाणिक माने जाते हैं। वेद के इतिहास पर उनका 'गोटेनगन' ग्रंथ खोजपूर्ण है।

प्रो० मैक्समूलर के ग्रंथों का सार सन् १८३८ में डॉ० रोसेन ने प्रकाशित कराया। इसके बाद कितने ही जर्मन विद्वानों की रुचि वैदिक साहित्य की ओर बढ़ी और उन्होंने कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। हेनरिक स्तिमरा का सन् १८७९ में प्रकाशित 'प्राचीन भारतीय जीवन और वैदिक युग में आर्यों की आध्यात्मिक संस्कृति' पठनीय है। हैरमंड ओल्डेन का 'वेद-धर्म' पुरातन भारत की आध्यात्मिक जीवनचर्या पर प्रकाश डालता है। यह ग्रंथ सन् १८९४ में छपा। सन् १८९१ में अल्फ्रेड हिलीब्रैंड का "भारतीय देवताओं की सामाजिक भूमिका" प्रकाशित हुआ, सन् १९२७ से लेकर १९२९ तक जर्मनी की प्रकाशन संस्थाओं ने वेदों के कई संस्करण छापे।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७६**

‘वेद और ब्राह्मणत्व’ ग्रंथ जर्मन विद्वान के० एल० गोगुनेर ने लिखा। हैफमैन का ‘दि विजडम आव दि वेदाज’ में जर्मन और भारतीय संस्कृति का तुलनात्मक और समन्वयात्मक विश्लेषण किया गया है। हैरमन लसमेल का ‘दि ओल्ड आर्यन आव दि काइण्ड एण्ड देयर गाड्स’ ग्रंथ १९३५ में प्रकाशित हुआ और उसमें वेदकालीन भारतीय गौरव-गरिमा पर प्रकाश डाला गया। हरमैन व्रथट् के ‘दि हाउस आव द अर्थ’ ग्रंथ में वेद साहित्य के संबंध में प्रस्तुत होने वाली अनेक शंकाओं और जिज्ञासाओं का सारगर्भित समाधान है।

सन् १८८८ में प्राग के कार्ल विश्व विद्यालय ने ‘ऋग्वेद’ छह खंडों में प्रकाशित किया। इसे उच्चारण की दृष्टि से बहुत प्रामाणिक माना जाता है। १९१३ में अल्फ्रेड हिलिब्रैण्ड ने भी ऋग्वेद का एक अनुवाद प्रकाशित कराया। कैम्ब्रिज से सन् १९२३ में के० एल० गोल्डेनर का ऋग्वेद का अनुवाद दो खंडों में प्रकाशित हुआ है। ऋग्वेद के काल और इतिहास के संबंध में एक गवेषणात्मक माल्टट ग्रंथ भूष्ट ने प्रकाशित कराया है।

अथर्ववेद का जर्मन भाषा में अनुवाद फ्रेडरिक ने किया जो सन् १९२३ में छपा। जूलियस ग्रिल का आयुर्वेद का अनुवाद पूरा तो नहीं है, पर जितना भी अंश छपा है माननीय है। ग्रिल ने अथर्ववेद के कुछ अंशों का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया है जो सन् १८७९ में छपा था।

संस्कृत विद्वान पाल डेनसन ने ‘१६ उपनिषदें’ नामक ग्रंथ छपाया, पर इतने से ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। पीछे उन्होंने ‘उपनिषदों की दार्शनिकता’ पर प्रकाश डालने वाला वृहद ग्रंथ लिखा और १९१५ में छपाया। एक अन्य जर्मन विद्वान हर्टेलर ने ‘उपनिषदों की ज्ञान गरिमा’ नामक ग्रंथ लिखा और सन् १९२१ में प्रकाशित कराया। उन्ही दिनों विद्वान हिल ब्रोथ ने ‘भारतीय ब्राह्मण और उपनिषद्’ ग्रंथ प्रकाशित कराया। ब्रोथ का शोध कार्य जारी रहा और उन्होंने १९५१ में और भी अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ ‘दि ब्रेथ आव दि एटलेल’ प्रकाशित कराया। इन ग्रंथों का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने से पता

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७७**

चलता है कि पाश्चात्य लेखकों को भारतीय धर्म एवं संस्कृति में कितनी गहरी दिलचस्पी थी और उन्होंने तत्संबंधी ज्ञान का उद्घाटन करने के लिए कितना अधिक श्रम किया।

ए० हिल्ले ब्रांडट लिखित 'वेदिशे माइथालॉजी' ग्रंथ वेद साहित्य पर अच्छा प्रभाव डालता है। ओल्डन बर्ग, मेक्डानेल, रिचर्ड पिसेल, एल० अल्सफर्ड, हेनरी ल्यूडर्स ने वेद साहित्य में से एक से बढ़कर एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ जनसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किए। प्रो० शेक्टेलोविम ने वैदिक सूक्तों की ऐसी सुंदर व्याख्या की जिसे पढ़कर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान इस अद्भुत ज्ञान की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

मार्टिन हाग, एच ओर्टल, जुलियस एगलिंग ने ब्राह्मण ग्रंथों पर शोध कार्य किया। 'शतपथ ब्राह्मण' जैसा विशाल ग्रंथ जर्मन भाषा में 'सेकेंड बुक आव द ईस्ट' सीरीज के अंतर्गत चार खंडों में छपा है। हर्मन ओल्डेन बर्ग ने 'दि वेल्डशायुजु देर ब्राह्मण टेक्स्टे' में ब्राह्मण ग्रंथों पर अत्यंत गंभीर और विवेचनापूर्ण प्रकाश डाला है।

स्टेन कोनो ने भी जर्मन भाषा में ब्राह्मण ग्रंथों पर शोधपूर्ण निबंध लिखे हैं। विल्हेम राड लिखित 'स्टाट उष्ट गोसिल्ल शथ्ट इन आल्टेन इंडियन' ग्रंथ में ब्राह्मण ग्रंथों के दर्शन पर गंभीर प्रकाश डाला गया है। कार्ल होफमन का अधिकांश समय ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसंधान में ही बीता।

'एकड् वटिल ड्यूपेरनि' का संपादित '५० उपनिषदों का संकलन' जर्मन देश में बड़े चाव से पढ़ा गया। आर्थर शोपेनहावर, ओटो बोथालिकड, हिल्ले ब्रांड, योहाल्लेस हर्टेल, एडवर्ड एअर ने उपनिषदों की विवेचना पर सारगर्भित ग्रंथ लिखे हैं। पो० पालड्यून का ६० उपनिषदों का समीक्षा सहित अनुवाद ग्रंथ 'दि फिलासफी देर उपनिषदस' पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे इस महान दर्शन से कितने अधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपना नाम बदलकर 'देवसेन' रख लिया था। उपनिषद साहित्य पर ओल्डेन वर्ग का 'दि लेअरे देर

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७८

अनिषदेन डंठ द आन फ्राइडे देज बुद्धिज्युस' तथा जैकोबी का 'दि एंड विक्लुंग देर गाटेस डी वी देन इण्डर्न' ग्रंथ पढ़ने से प्रतीत होता है कि इन लोगों ने कितनी गहराई से उन्हें पढ़ा तथा खोजा है और उनका सारतत्त्व विज्ञ समाज के सम्मुख रखा है।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषदों से आगे बढ़कर जर्मन विद्वानों ने पुराणों पर भी खोज की है और उनमें से कइयों को अनुवाद सहित प्रकाशित कराया है। पुराणों पर समीक्षात्मक तथा गवेषणात्मक ग्रंथ भी छापे हैं। ज्यूरिथ का पुराणों का जर्मन अनुवाद छपा गया और उसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। हाइनरिथ जिमर का 'भारतीय पुराण' सन् १९३६ में छपा था। इसे पढ़ने पर पुराणों के काल, उद्देश्य और आधार पर नवीन दृष्टिकोण उपलब्ध होता है।

भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालने वाले कितने ही ग्रंथ भी जर्मनी में छपे हैं। लेखकों ने गंभीर अध्ययन करके विस्मृत तथ्यों को विज्ञसमाज के सामने खोजपूर्ण सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया है। एफ० फनसेकर का ग्रंथ 'गंगा की कथा' बर्लिन से सन् १८५७ में प्रकाशित हुआ था। उसमें पवित्र गंगा तथा उससे संबंधित उपाख्यानों पर सारगर्भित प्रकाश डाला गया है। फनसेकर का ही एक दूसरा ग्रंथ हैम्बर्ग से 'भारतीय दर्शन' पर प्रकाशित हुआ है। इसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन शास्त्रों की तुलना करते हुए भारत के तत्त्वदर्शियों की सूक्ष्म बुद्धि को मुक्त कंठ से सराहा गया है।

'प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रंथ विक्टर निल्स ने लिखा है। यह इतना महत्वपूर्ण है कि उसका अनुवाद अँगरेजी में हुआ जिससे अँगरेजी भाषी जनता को महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई।

जोहान जैकब मेयर ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अनुवाद किया जो १९२६ में लिपजिगसे प्रकाशित हुआ, रिचार्ड स्मिथ ने वात्सायन के कामसूत्र का अनुवाद किया और वह सन् १८९७ में

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ७९**



प्रकाशित हुआ। जर्मन भाषा के एक ग्रंथ 'मातंग लीला' का भी रोचक अनुवाद उपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण की जटिलता सर्वविदित है। जर्मन विद्वान यह प्रयत्न करते रहे कि उन्हें इस व्याकरण को जर्मन भाषा में उपलब्ध करने में सफलता मिले तो संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को समझना और उनका सार निकालना संभव हो सके। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' की उक्ति के अनुसार इस कार्य में कई जर्मन विद्वान लगे और कठोर परिश्रम के बाद अंततः उन्होंने सफलता प्राप्त कर ही ली।

डॉ० कीलहर्न विशेषतया इसी प्रयोजन के लिए भारत आए और उन्होंने अनेक संस्कृत विद्वानों से बड़ी अनुनय-विनय के पश्चात संस्कृत व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया। इससे पूर्व और भी कई जर्मन विद्वान इस दिशा में प्रयास कर चुके थे। इनमें ओटो बोथलिंग, अल्वट वेवर, थियोडोर गौल्डस्टकर, जे० एगलिंग, वी० लेविख, आर० फ्रांके के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने भी संस्कृत व्याकरण को जर्मन भाषा में प्रस्तुत करने के लिए घोर परिश्रम किया था। कीलहर्न ने उन प्रयत्नों में एक सुनहरी कड़ी और जोड़ दी। उन्होंने पतंजलि महाभाष्य पर एक सुंदर ग्रंथ लिखा है। वे भारत में बहुत दिनों तक अध्ययन करने के उपरांत जर्मनी गए और वहाँ उन्होंने प्रो० मैक्समूलर के साथ वेदों के अनुवाद कार्य में सहयोग दिया। जर्मनी के गार्टिजन विश्व विद्यालय में वे संस्कृत के प्राध्यापक नियुक्त हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'एन साइक्लोपीडिया आफ आर्यन रिसर्च' नामक ग्रंथ संपादन किया जो अनेक जानकारियों से परिपूर्ण था।

संस्कृत व्याकरण पर जर्मन भाषा में दो और भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। (१) एडल्फ स्टेंजलर कृत—'एलीमेंटर बुख दो संस्कृत स्प्राखें' और जैकब बाकर नागेल कृत—'आलटिण्डशे ग्रेमेटिका'। इन ग्रंथों के सहारे जर्मन विद्वानों को संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन कर सकने की चाबी मिल गई।

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८०

जर्मनी में अभी भी भारतीय दर्शन के प्रति गहरी आस्था है। वहाँ ग्यारह विश्व विद्यालयों में भारतीय भाषाओं के पढ़ाने तथा शोध अन्वेषण की व्यवस्था है। योग विद्या सिखाने वाली पचास पंजीकृत पाठशालाएँ भी चलती हैं।

जर्मनी के दार्शनिक कांट, हीगल, शोपनहावर, गेटे, शिलर, हेरमेन हेस आदि के विचारों पर भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। यहाँ तक कि विस्मार्क, लूथर, कार्ल मार्क्स तक ने अपने सुधारवादी दर्शनों में भारतीय मान्यताओं से प्रेरणा ग्रहण की है। नीत्से जैसा अतिमानववादी नास्तिक तक अपने विचारों की पुष्टि में भारतीय प्रतिपादनों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करता रहा है।

उपरोक्त पंक्तियों में जर्मनी में भारतीय तत्त्वज्ञान के प्रति असाधारण श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए प्रमुखता के साथ चर्चा की गई है पर यह उत्साह न्यूनाधिक मात्रा में योरोप के अन्य देशों में भी विद्यमान है। अँगरेजी, फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में भी आर्ष साहित्य के अनुवाद कम नहीं हुए हैं। उन देशों के निवासियों में भी भारतीय तत्त्वदर्शन के समझने की उत्कट अभिलाषा देखी जाती है। विश्व विद्यालयों के माध्यम से ऐसी शोधें होती रहती हैं जिससे भारतीय मान्यताओं का सहज ही प्रतिपादन होता है।

योरोप के कतिपय देशों में ऐसे प्रमाण मिलते रहते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि उस क्षेत्र में भी समय-समय पर भारतीय पहुँचते रहे हैं और राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक चेतना उत्पन्न करने के लिए वहाँ के निवासियों की महत्त्वपूर्ण सहायता करते रहे हैं।

ईसा मसीह के बारे में प्रसिद्धि है कि वे तक्षशिला विश्व विद्यालय के छात्र रहे और वहाँ बौद्ध दर्शन का अध्ययन करके वापस लौट गए। अपने यहाँ की भाषा और स्थिति के अनुरूप उन्होंने बौद्ध दर्शन के प्रेम, अहिंसा आदि सिद्धांतों का प्रचार, प्रतिपादन अपने ढंग से किया। उनके उत्तराधिकारियों ने उसका नामकरण अपने गुरु के नाम पर 'ईसा-धर्म' अथवा 'ईसाई धर्म' कर दिया। वस्तुतः भारतीय दर्शन का

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८१**

क्षेत्रीय विचार ही ईसाई धर्म के रूप में विकसित हुआ है और आज योरोप का अधिकांश भाग उसी प्रकाश से लाभान्वित हो रहा है।

जर्मन के प्रायः प्रत्येक कालेज में संस्कृत भाषा पढ़ाने की व्यवस्था है। संसार में एकमात्र जर्मन रेडियो ही महीने में दो बार संस्कृत भाषा में प्रसारण करता है। ऐसी व्यवस्था स्वयं भारत तक में नहीं है। इन दिनों भी उस देश में संस्कृत भाषा के ऐसे उद्भट विद्वान मिलेंगे जो हमारे आचार्य परीक्षोत्तीर्ण स्नातकों की सिट्टी-पिट्टी गुम कर सकें।

भारतीय योग और संस्कृति की थोड़ी सी चर्चा करने वाले भी जर्मनी में बहुत लोकप्रिय हो जाते हैं। महेश योगी ने अपना प्रचार करने में पश्चिम जर्मनी में ही अधिक सफलता पाई। वहीं के नागरिकों ने एक हवाई जहाज उन्हें भेंट किया। वहाँ सामान्य ज्ञान के भारतीय विद्यार्थी योग की चर्चा करके जर्मन नागरिकों से अच्छा धन कमा लेते हैं।

गांधी जन्म शताब्दी जितने समारोह के साथ जर्मनी में मनाई गई थी। उतनी शायद ही किसी देश में मनी हो। सरकार ने गांधीजी का टिकट निकाला और वहाँ के रेडियो, टेलीविजन तथा प्रेस ने गांधी सिद्धांतों पर पूरे उत्साह के साथ प्रकाश डाला। कॉलेजों में 'गांधी व्याख्यान मालाएँ' चली और यह सिलसिला प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा।

उस देश में 'भारत-जर्मन सोसाइटी' एक सुदृढ़ संस्था है, जिसके तीस नगरों में शाखा कार्यालय हैं। इस संगठन के द्वारा भारत और जर्मन को सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक समीप लाने का प्रयत्न किया जाता है और उस देश में पढ़ने वाले छात्रों के लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटाने का प्रयत्न किया जाता है।



# अफ्रीका महाद्वीप में भारतीय संस्कृति

भारतीय महामानवों का जन्म भले ही उदयाचल पर उगते सूर्य की तरह होता रहा हो, पर वे एक सीमित क्षेत्र की संपत्ति बनकर नहीं रहे। उनके सामने “समस्त धरती अपनी, समस्त मानव परिवार-अपना परिवार” का उदात्त लक्ष्य था। इसलिए दुर्गमता से जूझते हुए उन्होंने सुदूर भू खंडों तक अपने क्रिया-कलापों को व्यापक बनाने का संकल्प साकार बनाने के लिए अनवरत रूप से प्रयास किया। “कृण्वन्तोविश्व मार्यम्” का लक्ष्य जिनके सामने हो वे सीमित परिधि में अवरुद्ध रह भी नहीं सकते।

एक समय था जब भारतीय धर्म प्रचारक अफ्रीका महाद्वीप में भी पहुँचे थे और वहाँ स्थिति के अनुरूप भौतिक प्रगति के लिए मार्गदर्शन एवं सहयोग प्रदान किया था।

प्राचीन काल की अफ्रीकी सभ्यता का विवरण वहाँ उपलब्ध जिन अवशेषों के आधार पर मिलता है, वे यही प्रमाणित करते हैं कि वहाँ पर सभ्यता का उद्भव भारतीयता के अनुगमन जैसा हुआ है। वहाँ की सभ्यताएँ, प्रथाएँ बहुत कुछ ऐसी हैं जिनसे पता चलता है कि वे आरंभ में भारतीय स्तर की ही रहीं होगी और पीछे बदलते-बिगड़ते इस रूप में आ गईं, जिन्हें पिछड़ेपन की निशानी ही कहा जा सकता है।

प्रागैतिहासिक काल में भारत और अफ्रीका एक ही महाद्वीप में थे और आवागमन के लिए थल मार्ग सुगम था। भौगोलिक उथल-पुथल ने बीच में समुद्र खड़ा कर दिया और यातायात के लिए जलयानों की आवश्यकता पड़ने लगी।

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८३

पूर्वी अफ्रीका की भाषा 'स्वाहिली' में हिंदी और संस्कृत भाषा के शब्दों का आश्चर्यजनक बाहुल्य है। वहाँ की लोक गाथाओं और पुरातत्व उपलब्धियों से स्पष्ट है कि किसी समय उस क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का ही प्राधान्य था।

पुरातत्त्ववेत्ता हूगो ओवरमीर ने अफ्रीका के देवी-देवताओं की आकृति का हिंदू देवताओं से पूर्ण साम्य सिद्ध करने वाले चित्र अपनी पुस्तक में प्रकाशित किए हैं। लंबे समय तक अफ्रीका का पर्यटन करने वाली योरोपीय महिला सारा लैटन ने अफ्रीकी भाषा में संस्कृत शब्दों का भारी संख्या में समावेश बतलाया है और लिखा है कि उस महाद्वीप के आदिवासियों में हिंदुओं की तरह ही हवन का प्रचलन देखा गया है।

अफ्रीका महाद्वीप प्रायः ४० देशों में बँटा हुआ है। उनके पुरातत्व विभागों, संग्रहालयों एवं उपलब्ध इतिहासों को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो प्रतीत होगा कि इन सबके पीछे भारतीय गरिमा झाँकती है। अफ्रीकी सभ्यता के विभिन्न स्वरूपों को अनेकानेक कबीलों की मान्यताओं और प्रथा-परंपराओं के रूप में देखा जा सकता है। उनके बीच भिन्नता भी बहुत है। पर यदि उन सबके पीछे मूल तथ्यों का निरूपण किया जाए तो सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि ये मान्यताएँ किसी उच्चस्तरीय भारतीय मान्यताओं के अनुकरण के पीछे चलती हैं। स्पष्ट है कि यदि उच्च आदर्शों की साज-सँभाल न की जाएगी तो वे भी मनुष्य की पशुप्रवृत्तियों में घुलते-मिलते अंततः विकृतियों के निकृष्ट स्तर पर आ गिरेंगी। रूढ़ियों, मूढ़ताओं, अंधविश्वासों का इतिहास यही है कि लोगों ने आदर्श को भुला दिया, प्रचलन मात्र को अपनाया और पीछे वे प्रचलन विवेकशीलता से हटते-हटते पशु-प्रवृत्तियों के सहगामी हो गए। इस प्रकार धर्म प्रचलनों की भी वह स्थिति आ गई, जिसे अनुपयुक्त एवं उपहासास्पद कहा जा सके। अफ्रीका के कबीलों की पिछले दिनों और इन दिनों भी चाहे ऐसी ही स्थिति रही

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८४**

हो तो भी उनकी प्राचीन परंपरा एवं दार्शनिकता ऐसी रही है, जिसे भारत की सहगामिनी एवं प्रशंसनीय कहा जा सके। इस तथ्य को अफ्रीका के संबंध में शोध कार्य करने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने एक स्वर से स्वीकार किया है।

भारतीय महासागर में मैडागास्कर (माला ग्यासी) द्वीपों के निवासी उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों से नहीं मिलते, उनका रक्त भिन्न है। मैडागास्कर यों अफ्रीका महाद्वीप के समीप है, पर उसके निवासियों की नसल भारतीय आर्यों की है। सभ्यता भी वहाँ की भारतीयों जैसी है। नाम भी उनके ऐसे हैं जो भारतीयों से मिल सकें।

जिस प्रकार योरोप में जर्मनी, अमेरिका में मैक्सिको, भारतीय संस्कृति के केंद्र-स्तंभ रहे हैं, उसी प्रकार अफ्रीका महाद्वीप में मिश्र देश को भारतीय संस्कृति का केंद्र माना जा सकता था। उस सुरम्य क्षेत्र को सर्वप्रथम भारतीयों ने ही आबाद किया था। वहाँ भारत वंशी राजा राज करते थे और उस क्षेत्र की जनता भारतीय धर्म की अनुयायी थी। इस्लाम का प्रवेश उस देश में होने से पूर्व का मिश्र का सारा इतिहास इन्ही प्रमाणों से भरा पड़ा है कि वहाँ भारतीय धर्म की ध्वजा फहराती थी और उसका प्रकाश अफ्रीका के सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचता था।

भविष्य पुराण खंड ४, अध्याय २१ के श्लोक १६ में ऋषियों के मिश्र में जाने और वहाँ भारतीय सभ्यता का विस्तार करने का स्पष्ट वर्णन है—

सरस्वत्यज्ञया कण्वो मिश्र देश मुपाययो।

प्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दश सहस्रकन॥

“सरस्वती की आज्ञा से कण्व ऋषि मिश्र देश को गए और वहाँ उन्होंने दस हजार प्लेच्छों को सुसंस्कृत बनाया।”

‘हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आव दि वर्ल्ड’ ग्रंथ में इस्लाम के प्रवेश से पूर्व की मिश्र की स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इस

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८५

काल में मिश्री सभ्यता भारत से लगभग पूर्णतया मेल खाती थी। उस देश के नागरिक यह मानते थे कि उसके पूर्वज देव देश से आकर यहाँ बसे थे। उस देव देश का जो वर्णन किया जाता था उसकी भौगोलिक स्थिति तथा सभ्यता की रूपरेखा भारत की स्थिति से सर्वथा मिलती-जुलती थी। वे 'मनस्' को आदि शासक मानते थे और उसका आचार-व्यावहार वैसा ही बताते थे जैसा भारत में। 'मनस्' और 'मनु' का शब्द-साम्य भी स्पष्ट है। मिश्र के पुरातन देवता भी थोड़े शब्द-भेद के साथ वे ही थे जो भारत में माने और पूजे जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था, राज-धर्म, युद्ध-आचार, व्यवहार-संहिता, धार्मिक सामान्य शिष्टाचार आदि में भारत और मिश्र की सभ्यता इतनी अधिक मिलती थी मानो वे माता और पुत्री अथवा सहोदर बहनें ही हों।

इतिहासकार हिरोडोटस ने भारत और मिश्र की मान्यताओं, परंपराओं का साम्य सिद्ध करने वाले अनेकानेक प्रमाण और तथ्य प्रस्तुत किए हैं। दर्शन पक्ष तो दोनों का आश्चर्यजनक रूप से एक ही बिंदु पर केंद्रित रहा है।

किसी समय मिश्र की नील नदी से लेकर भारत की गंगा के मध्य के समस्त क्षेत्र में एक ही सभ्यता और भाषा थी। मिश्र, बैबीलोन, सीरिया, मोहन जोदड़ो में उपलब्ध शिलालेखों में एक ही भाषा का प्रयोग पाया जाता है। इससे इस तथ्य की और भी अधिक पुष्टि होती है कि प्राचीन भारत एशिया, योरोप और अफ्रीका महाद्वीपों तक फैला हुआ था।

एक समय था जब भारत और मिश्र के लोग समान रूप से सूर्योपासक थे। फराऊन शासक सूर्यवंशी थे। पिरामिडों के भीतर सूर्य देवता की प्रतिमाएँ पाई हैं। मृतक के सिरहाने सोने के पत्रक पर गौमाता की प्रतिमाएँ बनी हुई मिली हैं। गाय भी उस नसल और आकृति की है जैसी भारत में होती है। लगता है कि वैतरणी पार करने के लिए गाय की पूँछ पकड़कर पार होने की भारतीय मान्यता का ही यह अनुकरण है।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८६**

गनेरा के पिरामिडों के पास एक विशालकाय नरसिंह की मूर्ति है। भारत में नरसिंह अवतार का जो स्वरूप वर्णन किया गया है लगभग उसी से मिलती-जुलती इस विशालकाय प्रतिमा की आकृति है। इसके समीप ही वहाँ एक भव्य मंदिर है जिसकी बनावट और व्यवस्था हिंदू-मंदिरों और साधना-गृहों जैसी है। इनमें अब मूर्तियाँ तो क्या रह पाती, पर अन्य सब दृष्टियों से उसका मंदिर होना स्पष्ट है। सूर्यवंशी राजाओं का अपने पिरामिडों के समीप नृसिंह की प्रतिमा तथा मंदिर का निर्माण स्वाभाविक भी था।

मिश्र पर शासन करने वाले 'हिस्त्री' (क्षत्री) राजा सूर्य और वरुण की पूजा करते थे। मंदिरों की परिक्रमा करने का प्रचलन था। मूर्तियों को स्थापित करने का स्थान 'स्ताना' कहा जाता था। पुजारियों को आदेश था कि स्वच्छ रहा करें। हिस्त्री राज में मृतकों की चिंता जलाई जाती थी और १३ दिन शोक मनाया जाता था। यह शासक अपने को भृगु के वंशज बताते थे। अमरीकी विद्वान कर्नल अल्काट ने लिखा है कि अब से आठ हजार वर्ष पूर्व हिंदू सभ्यता मिश्र में पहुँची थी और उसका विकास मिश्री सभ्यता के रूप में आरंभ हुआ था।

'अलमरना' की खुदाई में जो प्रमाण मिले हैं उनसे स्पष्ट है कि मिश्र के निवासी गौ भक्त और सूर्यपूजक थे। डॉ० प्राणनाथ ने भाषा-विस्तार के इतिहास का वर्णन करते हुए लिखा है कि भूतकाल में मिश्र की राज भाषा संस्कृत थी। अब भी वहाँ की भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। पुराने मिश्र के देवी-देवता हिंदू-देवताओं के ही अनुरूप एवं उनके उत्तराधिकारी हैं। वहाँ के मंदिरों की रचना भारतीय वास्तुशिल्प की ही प्रतिकृति है।

काहिरा के पुरातत्व संग्रहालय में प्राचीन योद्धाओं की जो मूर्तियाँ संग्रहीत हैं, उन्हें देखकर सहज ही त्रेता और द्वापर के भारतीय योद्धाओं की आकृति एवं आयुध अलंकारों के साथ उनकी गहरी संगति बैठ जाती है।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८७**



इस्लाम आगमन से पूर्व मिश्र की संस्कृति में पुरोहितों का वर्चस्व था। उनका सिर मुड़ाना, व्रत-उपवास करना, दिन में कई बार स्नान करना, चमड़े का प्रयोग न करना, मांस न खाना आदि नियमों का पालन भारतीय पंडित पुरोहितों जैसा ही है। यह पुरोहित 'शेन' कहलाते थे, यह पदवी भारत की 'शर्मा' जैसी ही थी। प्राचीन मिश्र में पूर्णिमा को होम करना, धर्मोत्सव, दिवाली का दीपदान समारोह, नई फसल आने पर अन्न का हवन, मकर संक्रांति का विशाल पर्व, मंगल कलशों का उपयोग, व्रत अनुष्ठान में अनिवार्य रूप से पत्नी की उपस्थिति, मूर्तियों के जुलूस, संगीतमय कीर्तन आदि प्रथाओं को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि उस देश के साथ भारत की कितनी सांस्कृतिक एकता थी। गौ को परम पवित्र और पूजनीय मानना, जूते उतारकर शुभ कार्यों में सम्मिलित होना, पुष्पहारों का उपयोग, हाथ-मुँह धोकर भोजन करने की रिवाज जैसी अनेक बातें प्राचीन मिश्र में भारत जैसी ही थीं। स्त्रियों के वस्त्र आभूषण वेश भूषा, सज्जा, केश-विन्यास, मेंहदी रचाना आदि कितने ही प्रचलनों में भारत के साथ अद्भुत साम्य था।

मिश्र के पिरामिड मात्र भवन निर्माण कला की दृष्टि से ही अद्भुत नहीं थे। उनके साथ वह विज्ञान की साक्षी रूप में भी विद्यमान हैं, जो उस समय के बड़े-चढ़े मानवी ज्ञान पर प्रकाश डालते हैं। सम्राट 'खूफू' का चियूप में बना पिरामिड पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण केंद्र बिंदु पर है। उस स्थान से एक सीधी रेखा खींच दी जाए तो गुरुत्वाकर्षण की दृष्टि से पृथ्वी ठीक दो भागों में विभक्त हो जाएगी। उसकी ऊँचाई इस प्रकार नाप-तोलकर रखी गई है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच की दूरी की गणना सहज में की जा सके। उस दूरी का यह पिरामिड दस हजार लाखवाँ भाग है। इस संख्या की पिरामिड की ऊँचाई से गुणा कर दें तो ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी बन जाती है।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ८८**

मिश्र इतिहास के विशेषज्ञ प्रो० ब्रूसवे ने लिखा है—“ईसा के जन्म से बहुत पहले भारतीयों ने स्वेज मुहाना पार करके मिश्र में नील नदी के उस तटस्थ उपजाऊ क्षेत्र में अपनी बस्तियाँ बसाईं।” ऐसा ही निष्कर्ष अमरीकी इतिहासवेत्ता ए० डी० मार ने निकाला है। उनका कथन है कि अब से साढ़े तीन हजार वर्ष पुराने ऐसे कितने ही प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे सिद्ध होता है कि भारतवासी एशिया, अफ्रीका और योरोप के कितने ही देशों में व्यवसाय तथा धर्म प्रचार के लिए जाया करते थे। वे मिश्र में गए और बसे। अरब, एबीसीनिया आदि में उन्होंने बस्तियाँ बसाईं। मिश्र की प्राचीन गुफाओं, देवालय, स्मारक आदि का शिल्प सर्वथा भारतीय मूल का है। इमली की लकड़ी तथा दूसरी ऐसी चीजें इन अवशेषों में मिली हैं जो उन दिनों केवल भारत में ही उपलब्ध थीं।

पिरामिडों में सुरक्षित मुरदे तथा अन्यत्र जहाँ-तहाँ पाई गई खोपड़ियों में से अस्सी प्रतिशत आर्य नसल के लोगों की हैं। पुराणों में जिस कृष्णा नदी का उल्लेख है वही वर्तमान नील नदी है। कुश द्वीप एवं बर्बर देश के नाम से इन ग्रंथों में वर्तमान मिश्र देश का उल्लेख मिलता है।

हैदराबाद के सैयद जलालुद्दीन भारत से जाकर मिश्र में बसे और उन्होंने वहाँ अरब साहित्य के नए युग का श्रीगणेश किया। उन्हें उस देश में दो लगनशील शिष्य मिले—रशीद रियाज और जगलूल। इनकी सहायता से उन्होंने अरबी साहित्य सृजन से लेकर उसका प्रचलन, विस्तार करने तक के अनेक सूत्रों का संचालन किया। अमेरिका और फ्रांस तक में अरबी के अध्ययन केंद्र खुल गए। इन्हीं के प्रयास से अरबी के दो प्रमुख दैनिक पत्रों का आरंभ और संचालन भी हुआ। ‘अल अहराम’ और ‘अल हिलाल’ उस देश के इन दिनों भी प्रमुख पत्र हैं।

दुर्भाग्य ने यह परिस्थिति उत्पन्न कर दी जो हृदय के सिकुड़ जाने पर नस-नाड़ियों में रक्त न पहुँचने के कारण शरीर की दुर्दशा

---

**समस्त विश्व को भारत के अज्ञान अनुदान / ८९**

की तरह सामने आई। भारत अंधकार युग के गर्त में धँसता चला गया, धार्मिक क्षेत्रों में फूट फैली, सांप्रदायिक विघटन के लिए अनेक मतवादी आगे आए। बौद्धिक धर्म नष्ट हुआ। धार्मिक एवं दार्शनिक अराजकता फैली। देश मतमतांतरों में विभक्त होता और बिखरता चला गया। सांस्कृतिक एकता नष्ट होने पर सामाजिक एकता स्थिर रह ही नहीं सकती। देश में फूट फैली, व्यक्तिवाद पनपा। संकीर्ण स्वार्थपरता को आश्रय मिला। फलतः अपनी ही समस्याएँ इतनी उलझ गई कि उनका सुलझना ही कठिन पड़ गया। ऐसी दशा में सुदूर देशों में फैले हुए सांस्कृतिक विस्तार को पोषण देने की बात कौन सोचता?

इन उलझनों से भारतीय प्रचारकों द्वारा अन्य देशों में पहुँचाने वाला भावनात्मक रक्त-प्रवाह रुक गया और कितने ही देशों की तरह अफ्रीका महाद्वीप के मिश्र आदि केंद्रों को भी प्रकाश-पोषण नहीं पहुँचा। वे समीपवर्ती आकर्षणों और आक्रमणों के शिकार होते चले गए। अब अफ्रीका में इस्लाम धर्म की प्रमुखता है। ईसाई धर्म इसके बाद आता है। यह स्वाभाविक भी था। अरब लोग अपने समीपवर्ती इस क्षेत्र में इस्लाम को लेकर गए और वहाँ के भोले लोगों को अपना अनुयायी बना लिया। पिछले दो सौ वर्षों में योरोपियन ईसाइयों का प्रवेश हुआ तो वहाँ आधे से कुछ ही कम लोग इस धर्म में भी दीक्षित हो गए। हिंदू धर्म वहाँ उतना ही है जो भारतीय मूल के लोगों के साथ पहुँचा है और उन्हीं तक सीमित है।




---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९०**

# मौरीशस—छोटा भारत

अफ्रीका महाद्वीप के अंतर्गत २९ मील चौड़ा, ३९ मील लम्बा, ८.५ लाख की अबादी का मौरीशस एक छोटा-सा द्वीप है। इसमें ६० प्रतिशत लगभग ४.५ लाख भारतीय मूल के लोग बसते हैं। भारतीयों में ५३ प्रतिशत हिंदू हैं, शेष लोगों में २५ हजार चीनी, १० हजार लोग गोरे तथा कुछ अफ्रीकी नस्ल के हैं। यह द्वीप भारत से लगभग २ हजार मील-मैडागास्कर से ५०० मील दूर है। अफ्रीकी तट से सवा हजार मील दूर है।

पंद्रहवीं शताब्दी तक मौरीशस बिल्कुल वीरान पड़ा था। वहाँ समुद्री लुटेरे ही कभी-कभी अपना डेरा डालते थे। सोलहवीं शताब्दी के आदि में यहाँ पुर्तगालियों ने बसने का प्रयत्न किया, पर समुद्री तूफानों तथा चूहों के उत्पात से डरकर उखड़ गए। इसके बाद १५९८ में डचों ने बसने का प्रयत्न किया, पर वे भी उसे अस्वास्थ्यकर कह कर चले गए। १७५१ में फ्रांसीसी यहाँ आए और उन्होंने अफ्रीका से गुलाम पकड़ कर यहाँ बसाएँ। सन् १८८० में अंगरेजों ने इसे आक्रमण करके हथिया लिया। अंगरेजों ने भारत से मजदूर लाकर इस देश में बसाए। ३४९०३६ पुरुष तथा १०४७२८ महिलाएँ वहाँ लाकर बसाई गईं। इस प्रकार वहाँ भारतीयों की बस्ती बसती चली गई।

विदेशी गुलामी से मौरीशस १२ मार्च १९६८ को स्वतंत्र हुआ और उस देश के निवासियों की चुनी हुई सरकार बनी जिसके प्रधान मंत्री भारतीय मूल के श्री शिवसागर रामगुलाम बने। चाय और चीनी का उत्पादन यहाँ विशेष रूप से होता है।

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ११

सन् १७२९ में मौरीशस पर फ्रांसीसी शासन था। उसी वर्ष भारतीयों का एक दल श्रमिकों के रूप में वहाँ पहुँचा। उसमें बंगाली, बिहारी, उड़िया तथा आसामी लोग थे। पोर्टलुई राजधानी के निर्माण में इन श्रमिकों ने भारी योगदान दिया। इसके बाद १८३४ में अंगरेज बहुत से श्रमिकों को ५ वर्ष के ठेके की शर्त पर वहाँ ले गए, इनमें हिंदीभाषी प्रांतों के लोग अधिक थे, उसमें भी बिहार के सबसे ज्यादा। उनके साथ भोजपुरी बोली गई। भोजपुरी और हिंदी मिश्रित भाषा ही वहाँ उत्तर भारतीयों की भाषा है। उसमें कितने ही फ्रांसीसी भाषा के शब्द भी आत्मसात हो गए हैं। रामायण का अच्छा प्रचलन है, जहाँ-तहाँ रामलीला भी होती है।

कहा जा सकता है कि भारतीयों ने ही मौरीशस को बसाया। उन्होंने गन्ने की कटाई की और चीनी के कारखाने लगाए। शमारेल की पीली पहाड़ी पर रंग-बिरंगी मिट्टी पाई जाती है, उसकी तुलना सूर्य की सतरंगी किरणों से की जाती है, पर वस्तुतः उसके चालीस प्रकार तक के रंग गिने जा चुके हैं। इस मिट्टी को सफेद शीशी में भरें तो इंद्रधनुष जैसा दिखाई पड़ता है। मौरीशस में एक विचित्र पेड़ है 'टलोपोट'। इस पर सौ वर्ष में एक ही बार फूल आता है और उसके बाद उसकी मृत्यु हो जाती है। खेती में जिधर भी नजर डाली जाए गन्ना ही गन्ना उगा हुआ दिखाई पड़ता है। दस-दस मील पर मौसम बदलने वाला यह विलक्षण टापू है। पोर्टलुई में गरमी है, तो वाक्वा में हलकी ठंड और आगे बढ़ें तो क्यूपिय में पूर्ण ठंड अनुभव होने लगेगी। मौरीशस का पुराना इतिहास नहीं है। न वहाँ के कोई आदिवासी हैं। वर्तमान प्रजा के पूर्वज भारत, अफ्रीका, फ्रांस, मैडागास्कर और चीन से वहाँ पहुँचे थे। इन सबकी अपनी-अपनी भाषा और संस्कृति है। सभी सहिष्णुतापूर्वक मिल जुलकर रहते हैं। पहली जनवरी नया वर्ष यहाँ सभी वर्गों का त्योहार बन गया है। जनता में धार्मिक रुचि अधिक है। सभी अपने-अपने धर्म स्थानों में उत्साहपूर्वक जाते हैं। मंदिर, मसजिद और गिरजाघर भीड़ से भरे रहते हैं।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९२**

कीर्तन, स्नान के लिए हिंदू कम से कम एक लाख की संख्या में समुद्र में स्नान और पूजन के लिए उसी तरह पहुँचते हैं जैसे भारत में सोमवती अमावस्या को गंगा आदि नदियों पर धार्मिक लोगों की भीड़ होती है। शिवरात्रि पर दक्षिण मौरिशस के तालाब में नहाने के लिए भी हिंदू जनता इसी उत्साह के साथ पहुँचती है। साधारणतया पेंट पहिनने वाले भी उस दिन धोती पहिनते हैं। तालाब का जल लेकर अपने घर पहुँचते हैं तो उनका स्वागत होता है।

पहले वहाँ हिंदू मृतकों को जलाने की व्यवस्था नहीं थी। अब सभी नगरों में सुव्यवस्थित श्मशान बना दिए गए हैं। दाह-क्रिया का प्रचलन कराने में वहाँ की आर्य समाज ने बहुत प्रचार और आंदोलन किया था। गुजरात की तरह मौरिशस के हिंदू निवासी अपने नाम के साथ पिता का नाम भी जोड़ते हैं। मौरिशस के कितने ही नगरों के नाम भारत जैसे ही हैं। जैसे आनंद ग्राम, चित्रकूट, ऋषि नगर, लालकारी, सोनामुखी, महेश्वर नगरी, धारा नगरी, पुरी, मायापुरी आदि।

चार्ल्स डार्विन यहाँ १८३६ में पहुँचे और उन्होंने प्रथम बार भारतीयों को देखा। उन्होंने अपने भ्रमण-वृत्तांत में लिखा है कि “मैं नहीं जानता था कि भारतीय इतने सुंदर होते हैं।”

एयर इंडिया के हवाई जहाज साढ़े पाँच घंटे में मुंबई से चलकर मौरिशस पहुँचा देते हैं। पानी के जहाज से अफ्रीका होकर जाना पड़ता है। कभी भारत से मौरिशस जाने में महीनों लग जाते थे।

सभी धर्मों के लोग सह-अस्तित्व और सहयोग के साथ कितनी अच्छी तरह रह सकते हैं? इस आदर्श की यह देश एक सफल प्रयोगशाला है। फ्रांसीसियों के यहाँ २३ बड़े शहर मिल हैं। चीन वाले व्यापार करते हैं। मुसलमानों का रुझान तिजारत और कारीगरी की ओर है। हिंदुओं में से अधिकतर कृषि करते हैं। चाय, तंबाकू, अदरक का निर्यात होता है, किंतु चावल और गेहूँ आयात करना पड़ता है। आलू अपने काम चलाने लायक हो जाता है। लघु

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९३**

उद्योग पनप रहे हैं, जिससे वहाँ की समृद्धि बढ़ रही है। बेकारी की समस्या महीं है।

इस टापू की लोक भाषा 'किओल' है। विभिन्न वर्गों के लोग जब मिलते हैं तो 'किओल' में बात करते हैं। स्कूलों में अंगरेजी और प्रेंच पढ़ाई जाती है। अधिकांश स्कूल निजी संस्थाओं द्वारा चलाए जाते हैं जिन्हें सरकारी मान्यताएँ और सहायता उपलब्ध होती है। रेडियो और टेलीविजन पर हिंदी व भोजपुरी के कार्यक्रम भी चलते हैं।

ग्रामीण क्षेत्र में रहने वाले हिंदुओं के घरों के सामने हनुमानजी का भगवा ध्वज गड़ा दिखाई देता है। रामायण कथा तथा कीर्तन आदि की धूम मची रहती है। उत्साह पूर्वक इसमें जनता भाग लेती है। जो चढ़ावा आता है उसे धार्मिक विद्यालयों के संचालन में खर्च किया जाता है। आर्य समाज ने भी इस क्षेत्र में अच्छा काम किया है। उसके संगठन तथा भवन भी जगह-जगह हैं, पर वहाँ सनातनी और आर्य समाजी मिल-जुलकर ही समस्त धार्मिक आयोजन करते हैं। उनमें कट्टरता का विष नहीं घुला है। रविवार के आर्यसमाज सत्संगों में भी लोग वैसे ही भावनापूर्वक जाते हैं जैसे कि देवालयों और कथा-कीर्तनों में। होली, दिवाली तथा अन्य त्योहार भारत की भाँति ही बड़ी धूमधाम से मनाए जाते हैं। मॉरीशस हिंदू सभा, मॉरीशस सनातन धर्म टेम्पल फेडरेशन, मॉरीशस ब्राह्मण महासभा, भारतीय गंगा स्नान समिति आदि संस्थाएँ उस क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से धार्मिक वातावरण बनाने एवं धर्मनिष्ठा जाग्रत करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। मॉरीशस सनातन धर्म मंदिर संघ ने एक सुंदर ग्रंथ प्रकाशित किया है 'मॉरीशस मंदिर चित्रावली' इसमें उस देश के प्रमुख ६७ मंदिरों के चित्र तथा विवरण प्रकाशित किए गए हैं। इन मंदिरों का संचालन करने वाली संस्थाओं के अलग-अलग नाम हैं।

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १४**

मॉरीशस में 'हिंदी प्रचरिणी सभा' तथा 'पोर्टलुई हिंदी सभा' ने हिंदी प्रचार की दृष्टि से बहुत काम किया है। उस देश में १७५ हिंदी पाठशालाएँ चलती हैं जिसमें "हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग" की परीक्षाएँ ली जाती हैं। हर गाँव में शिव मंदिर पाया जाएगा। दूसरे देवताओं के भी मंदिर हैं। तुलसी कृत रामायण का यहाँ बहुत प्रसार है। स्वामी कृष्णानंद जी के प्रयत्न से भारतीय जनता ने रामायण की एक लाख प्रतियाँ वहाँ भेजी हैं, जिन्हें हर घर में पहुँचाया गया है। 'पोर्ट लुइस हिंदी परिषद' की ओर से हिंदी प्रसार का कार्यक्रम उत्साहपूर्वक चलाया जा रहा है। परिषद की एक त्रैमासिक पत्रिका निकलती है। उसने कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं।

आर्य समाज संस्था उस देश में बहुत समय से काम कर रही है। उसके द्वारा दो कालेज चलाए जा रहे हैं। सन् १९७३ में वहाँ एक विशाल आर्य सम्मेलन बुलाया गया था, जिसमें भारत से भी बहुत से लोग गए थे। 'सनातन धर्म सभा' का काम श्री विद्यानिवास पांडेय के नेतृत्व में चल रहा है। कितने ही मंदिर तथा हिंदी पाठशालाएँ यह संस्था चलाती हैं। पौरोहित्य कर्म सिखाने की भी पाठशालाएँ हैं। रामकृष्ण मिशन का कार्य इन दिनों स्वामी तत्वबोधानंद चलाते हैं। स्वामी कृष्णानंदजी ने घर-घर रामायण पहुँचाने का प्रयत्न किया है। अन्य कई संस्थाएँ तथा समाजसेवी उस देश को बौद्धिक तथा भावनात्मक दृष्टि से ऊँचा उठाने में संलग्न हैं।

ईसाई मिशनरी यहाँ पूरी तरह सक्रिय हैं। भारतीय लोगों को ही ईसाई बनाने में उन्हें अधिक सफलता मिली है। चीनी, अफ्रीकी तथा मुसलिम संगठन भी वहाँ कई एक हैं। और भी कई संस्थाएँ सराहनीय कार्य कर रही हैं। मोरक्का में नदी तट पर २२ एकड़ भूमि में फैला 'गांधी इंस्टीट्यूट' श्रीनटराजन के संचालकत्व में चल रहा है। इसमें पुस्तकालय, कला-भवन,

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९५**



संग्रहालय, सभा भवन आदि कक्ष हैं। भारतीय भाषाओं के पढ़ाने का भी इसमें प्रबंध है।

‘मॉरीशस टाइम्स’ इस देश का प्रमुख अंगरजी साप्ताहिक पत्र है। प्रो० विष्णुदयाल ने उस देश की परिस्थितियों तथा समस्याओं से संबंधित कई पुस्तकें लिखी हैं।

सन् १९०१ में गाँधीजी मॉरीशस गए और उन्होंने अपना भाषण गुजराती में दिया। गाँधीजी की प्रेरणा से सन् १९०७ में डॉक्टर मणिलाल वहाँ गए। इन्हीं दिनों वहाँ आर्य समाज की स्थापना हुई और १५ मार्च १९०९ से प्रथम साप्ताहिक पत्र ‘हिंदुस्तानी’ का प्रकाशन हुआ। इसके बाद कई पत्र निकले और बंद हुए। ‘आर्योदय’, ‘जनता’ नाम से साप्ताहिक और ‘जमाना’ (पाक्षिक) पिछले दिनों अपने ढंग से चल रहे थे। पं० आत्मारामजी लिखित ‘मॉरीशस का इतिहास’, ‘हिंदू मॉरीशस’ पुस्तकों से वहाँ के भारतीयों की स्थिति तथा भूमिका पर प्रकाश पड़ता है।



# आस्ट्रेलिया महाद्वीप के भारतीय

आस्ट्रेलिया महाद्वीप का आधुनिक इतिहास योरोपियन जातियों के उस क्षेत्र में प्रवेश करने के साथ आरंभ होता है, पर इससे पूर्व वहाँ जनशून्य स्थिति नहीं थी। वहाँ ऐसे लोग बसे हुए पाए गए, जो आधुनिक शिक्षा और सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए भले ही कहे जाएँ, पर उनकी अपनी एक विशिष्ट जीवन यापन पद्धति थी।

आस्ट्रेलिया के आदिवासियों की मान्यताएँ भारतीयों से मिलती-जुलती हैं। वे हर जीव में तथा पदार्थ में एक आत्मा का निवास मानते हैं और उसके प्रति पूरी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। वृक्षों का पूरा सम्मान किया जाता है। यहाँ तक कि उनके चिकित्सक यदि किसी वृक्ष की अस्वस्थता दूर करने के लिए नर रक्त सेवन की आवश्यकता बताते हैं तो परिवार के युवक अपना रक्त देने में प्रसन्नता भरा सौभाग्य अनुभव करते हैं।

मृतक संस्कार करते समय मुरदे का मुंडन कराया जाता है और परिवार के लोग भी मुंडन कराते हैं। मृतक का दाह-संस्कार करने के लिए उसकी पूरी झोपड़ी को ही जला दिया जाता है। उनका 'बूमरांग' अस्त्र शब्दभेदी बाण का काम करता है। वहाँ के आदिवासी उसे बनाने और चलाने में विशेष प्रवीणता प्राप्त करते हैं। वह घुमावदार यात्रापथ बनाकर सनसनाता हुआ जाता है और अचूक निशाना बेधता है, अथवा चलाने वाले के पास वापस लौट आता है। इस कौशल को देखकर विविध प्रकार के चातुर्य कुतूहल दिखाने वाले लोग भी अवाक् रह जाते हैं।

---

समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९७

आस्ट्रेलिया के निवासियों का कोई लिखित और प्रामाणिक इतिहास तो उपलब्ध नहीं है, पर कुछ पुरातन अवशेष उस महाद्वीप में पाए जाते हैं, उनसे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान आदिवासियों के पूर्वज सुयोग्य भी रहे हैं और सुसंस्कृत भी। उनकी अभिरुचि और क्रियापद्धति का प्राचीन भारतवासियों के साथ बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है और यह निष्कर्ष निकलता है कि वे प्रागैतिहासिक काल में भारत से ही जलयात्रा करते हुए वहाँ पहुँचे थे। भारतीय आदिकाल से ही नौकायन विद्या में पारंगत रहे हैं और सुदूर देशों से अपना संपर्क बनाए रहे हैं। जलमार्ग से उनका यातायात क्रम बड़े उत्साहपूर्वक चलता था। आस्ट्रेलिया में भी वे इसी भू-भ्रमण उत्साह को लेकर पहुँचे होंगे और धरती माता के प्रत्येक क्षेत्र को मानव प्राणियों द्वारा सुविकसित बनाने का लक्ष्य लेकर वहाँ बस गए होंगे।

मध्यकाल में भारत के साथ उनका संबंध टूट जाने से विकास के आवश्यक साधन उपलब्ध नहीं रहे होंगे और परिस्थितियों की जटिलता ने उन्हें क्रमशः पिछड़ेपन के गर्त में धकेल दिया होगा। साधनहीन होने पर भी आस्ट्रेलियाई आदिवासी लंबी अवधि तक प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए अपना अस्तित्व बनाए रहे, यह भी उनकी कम साहसिकता और कम सूझ-बूझ नहीं मानी जाएगी।

आधुनिक आस्ट्रेलिया की खोज सन् १७७० में जेम्स कुक नामक अंगरेज नाविक ने की और अपने देश के आधिपत्य का झंडा वहाँ जाकर गाड़ा। उसके बाद अंगरेज वहाँ बसने लगे और अपनी बस्तियाँ बसाने लगे। सन् १८४० में वहाँ सुव्यवस्थित अर्थ-व्यवस्था स्थापित हो सकी। सर्वप्रथम भेड़ पालने का उद्योग वहाँ बड़े पैमाने पर आरंभ किया गया। कृषि की व्यवस्था भी बनाई गई। १८२३ में संविधान बना और विधिवत शासन-तंत्र स्थापित हुआ। इंग्लैण्ड का राजा ही वहाँ का राजा था। चुनाव सर्वप्रथम सन् १९०१ में हुआ। अब वहाँ प्रजातंत्र है, पर वह ब्रिटिश कामन वेल्थ के अंतर्गत ही है।

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९८**

आस्ट्रेलिया क्षेत्र में ६०० टापू हैं। इनमें से १३ को पर्यटकों के लिए विकसित किया गया है।

आस्ट्रेलिया का क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दोगने से भी अधिक है। किंतु आबादी नगण्य, कुल एक करोड़ बीस लाख। यह जनसंख्या उतनी है जितनी मुंबई, कोलकाता और दिल्ली इन तीनों शहरों को मिलाकर होती है। यहाँ की जलवायु बहुत अच्छी है। पुरुष की औसत आयु ६८ वर्ष और स्त्रियों की ७४ वर्ष है। जीवन स्तर ऊँचा है, फिर भी जन्म दर बहुत कम है। लोग सीमित संख्या में ही बच्चे उत्पन्न करने का पूरा ध्यान रखते हैं।

इस देश में अधिकांश अंगरेज ही बसे हैं। वे ६७ प्रतिशत हैं। इसके बाद इटली, जर्मनी, हालैण्ड, अमेरिका तथा योरोप के अन्य देशों के निवासी हैं। अब बाहर के लोगों को बहुत कम ही प्रवेश करने दिया जाता है। वहाँ एशियाई लोगों की संख्या कुल मिलाकर ७ लाख है। इनमें कुछ भारतीय कृषक और श्रमिक भी हैं, कुछ नौकरी, व्यवसाय भी करते हैं।

जेम्स कुक जब वहाँ पहुँचा था तब आस्ट्रेलिया के मूल निवासी तीन लाख से अधिक थे। कल्लेआम में वे मुट्ठी भर ही बच सके। इसके बाद उनकी नसल को जीवित रखने के लिए वैसे ही प्रयत्न हुए जैसे कि अब भारत में सिंह आदि की रक्षा के लिए किए जा रहे हैं। पिछले पचास वर्ष से उन्हें शांति से जीवित रहने का अधिकार मिला है। इस अवधि में वे बढ़ने लगे हैं और एक लाख चालीस हजार की संख्या में जा पहुँचे हैं। ये लोग दुर्गम वन्य-प्रदेशों में खानाबदोश जैसा जीवनयापन करते हुए निर्वाह करते हैं। अब उन्हें नागरिक जीवनयापन करने का अभ्यस्त बनाया जा रहा है।

आस्ट्रेलिया और एशिया के बीच समुद्र की दूरी बहुत दिखाई पड़ती है, पर सुदूर पूर्व में जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में ठहरते हुए आस्ट्रेलिया तक की लंबी यात्रा अभी मध्य स्तर की नौकाएँ कर

---

**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / ९९**

सकती हैं। प्राचीन भारत का विस्तार स्वर्ण द्वीप समूहों तक हो चुका था। उस मार्ग से प्राचीन भारतीय आस्ट्रेलिया तक पहुँचे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। संसार भर के भूखंडों को समुन्नत बनाने की महत्वाकांक्षा उन्हें इस दुर्गम एवं अविज्ञात समझे जाने वाले क्षेत्र में ले पहुँची हो तो यह कोई असंभव बात नहीं है।

अंगरेजी शासनकाल में प्रोत्साहन पर कुछ भारतीय श्रमिक भी वहाँ पहुँचे और उसी देश के नागरिक बनकर वहाँ बस गए। उन भारतीय मूल के लोगों की पीढ़ियाँ अब उसी देश की पूर्ण नागरिक हैं। आस्ट्रेलिया के 'बुलगेलाते' कसबे में सिखों के दो गुरुद्वारे हैं। यहाँ पंजाब से आए हुए सिखों के ४० हजार परिवार स्थायी निवासी बनाकर बस गए हैं। पहले एक ही गुरुद्वारा था, पर अब परस्पर की फूट ने उन्हें भी दो भागों में विभक्त कर दिया है। गिरिजाधरों की तरह यहाँ भी रविवार को पूजा-पाठ होता है।

समय-समय पर अभी भी वहाँ अन्य देशवासी विशेष प्रयोजनों के लिए जाते रहते हैं। नौकरी, शिक्षा, पर्यटन आदि कई प्रयोजनों के लिए अन्य देशों के लोग वहाँ पहुँचते हैं, जिनमें भारतीय भी शामिल है। इन्हें स्थायी रूप से नहीं रहने दिया जाता। नियत समय तक ठहरने की सुविधा उन्हें मिलती है। गोरे लोगों की तुलना में भारतीयों को और भी कम सुविधा मिलती है।

इस परिस्थिति में भी लगभग १५ हजार भारतीय उस देश में रह रहे हैं। १९८१ की जनगणना के अनुसार आस्ट्रेलिया में हिंदुओं और सिखों की संयुक्त संख्या २२६८० थी, जिनमें पुरुष १४७८० और स्त्रियाँ ७९०० थीं। उस देश की कुल जनसंख्या एक करोड़ अट्ठाईस लाख के करीब थी।

नवीनतम जानकारी के अनुसार उस देश में ३३३९ भारतीय व्यक्ति तकनीकी कार्यों में और ३७८४ उत्पादन एवं व्यापार में संलग्न हैं। शेष उनके आश्रित परिवारीजन हैं।



**समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान / १००**